thearyasamaj.org

VISHVA–JYOTI R. N. NO. 1/57 ISSN 0505-7523
REGD. NO. PB-HSP-01
CURRENCY PERIOD: (1.1.2015 TO 31.12.2017)

६३, १० जनवरी –2015

विश्वज्योति

धियो यो नः प्रचोदयात्
VISHVESHVARANAND INST.

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान

साधु आश्रम, होश्यारपुर

एक प्रति का मूल्य : १० रुपये

thearyasamaj.org

संस्थापक–सम्पादक :
स्व. पद्मभूषण आचार्य (डॉ.) विश्वबन्धु

सम्पादक:
प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल
(सञ्चालक)

आदरी सह–सम्पादक :
प्रो. त्रिलोचनसिंह बिन्द्रा

उप–सम्पादक :
डॉ. देवराज शर्मा

परामर्शक–मण्डल :

डॉ. दर्शनसिंह निर्वैर
होश्यारपुर

डॉ. (श्रीमती) कमल आनन्द
चण्डीगढ़

डॉ. जगदीशप्रसाद सेमवाल
होश्यारपुर

डॉ. (सुश्री) रेणू कपिला
पटियाला

शुल्क की दरें

आजीवन (भारत में)	:	१२०० रु.	आजीवन (विदेश में)	:	३०० डालर
वार्षिक (भारत में)	:	१०० रु.	वार्षिक (विदेश में)	:	३० डालर
सामान्य अङ्क (भारत में)	:	१० रु.	सामान्य अङ्क (विदेश में)	:	३ डालर
विशेषाङ्क (एक भाग भारत में)	:	२५ रु.	विशेषाङ्क (एक भाग विदेश में)	:	६ डालर

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, साधु आश्रम,
होश्यारपुर–146 021 (पंजाब, भारत)

दूरभाष : कार्यालय : 01882–223581, 223582, 223606
सञ्चालक (निवास) : 01882–224750, प्रैस : 231353

E-mail : vvr_institute@yahoo.co.in
Website : www.vvrinstitute.com

thearyasamaj.org

विषय-सूची

लेखक	विषय	विधा	पृष्ठांक
आर्यरत्न पूनम सूरी	नव-वर्ष	कविता	2
डॉ. त्रिलोचनसिंह बिन्द्रा	धर्म की महत्ता	लेख	3
प्रो. एस.एन. झारिया	धर्म और सामाजिक प्रगति	लेख	6
डॉ. राजकुमार महाजन	महाकवि अश्वघोष के महाकाव्यों मे पौराणिक, शास्त्रीय उपमान	लेख	10
प्रिं. उमेश चन्द्र शर्मा	हम क्या थे, क्या हो गये	लेख	14
श्री. अशोक भाटिया	अनासक्ति का अर्थ निष्क्रियता नहीं, निष्काम कर्म है	लेख	17
डॉ. सतीशराज पुष्करणा	झूठा अहम्	लेख	21
सुश्री स्नेह लता	बाल-कथा-साहित्य की प्रगति	लेख	23
कु. गुरमीत कौर	मानव-सेवा ही प्रभु-भक्ति	लेख	26
डॉ. मनीष कौशल	श्रीमद्‌भागवतमहापुराण में आश्रम-व्यवस्था	लेख	28
श्री. श्रीकृष्ण गोयल	स्वस्थ जीवन	लेख	31
डॉ. रामप्रकाश शर्मा	शिक्षा और दान : समाज की आवश्यकता	लेख	33
श्री ठाकुरदास कुल्हारा	दु:ख में भी सुख की तलाश कीजिये	कविता	35
डॉ. उमा रानी	श्रद्धा: आधुनिक सन्दर्भ में	लेख	36
सुश्री निधि चौधरी	चैतन्य-वेदान्त में गोस्वामिगदाधर भट्ट का स्थान	लेख	39
श्री शान्तिलाल सालवी	भवभूति के कारुण्य की समीक्षा	लेख	42
	संस्थान-समाचार		45
	विविध-समाचार		46
	पुण्य-पृष्ठ		47
	परिपत्र		51

thearyasamaj.org

विश्वज्योति

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागात्॥ (ऋ. १,११३,१)

वर्ष ६३ } होश्यारपुर, पौष २०७१; जनवरी २०१५ { संख्या १०

रथे अक्षेष्वृषभस्य वाजे
वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान,
सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥

(अथर्ववेद, 6. 38. 3)

रथ में (अक्षेषु) पासों में (ऋषभस्य वाजे) बैल के बल में (वाते) वायु में (पर्जन्ये) मेघ में (वरुणस्यं शुष्मे) वरुण के गम्भीर नाद में जिस (स्वाभाविक शक्ति का) प्रकाश हो रहा है (वही मेरे अन्दर भी हो)। जिस (स्वाभाविक शक्तिरूपिणी) (सुभगा) भगवती ने इन्द्र (तक) को (जजान) प्रकट कर रखा है, वह (वर्चसा संविदाना) तेज-पुंज को साथ लिए हुए (नः) हमें भी (ऐतु) आकर कृतार्थ करे।

(वेदसार-विश्वबन्धुः)

thearyasamaj.org

।। ओ३म् ।।

आर्यरत्न पूनम सूरी

नव-वर्ष की इस पुनीत-वेला में
प्रार्थना है उस प्रभु से
प्रज्ज्वलित करे वह ज्योति विनम्रता की
हर आर्य के मन में,
दूर हो जाएँ भाव अहंकार और स्वार्थ के
मन से।

विनम्रता से ही मिलेगी शक्ति वह,
पूरे होंगे लक्ष्य जिससे
सेवा करने के मानवता की
पशुधन और पर्यावरण की।

प्रार्थना यह भी, कि
प्रभु हमें दे शक्ति और सामर्थ्य वह,
कर सकें सहयोग जिससे और सेवा
आंदोलन की, डी.ए.वी. नाम जिसका,
और बनें आदर्श
करके प्रचार आर्य सिद्धान्तों
व आर्य जीवन-शैली का।

हों सभी स्वस्थ, समृद्ध और सानन्द
नव-वर्ष में!

–चित्रगुप्त रोड, पहाड़गंज, नई दिल्ली – 110 055

thearyasamaj.org

धर्म की महत्ता

– डॉ. त्रिलोचन सिंह बिन्द्रा

हमारे प्राचीन शास्त्रों में सर्वदा धन की अपेक्षा धर्म की महत्ता का ही वर्णन किया गया है। महाभारत में कहा गया है कि धनी व्यक्ति के लिए स्वर्ग का द्वार सदा बन्द रहता है। इसी प्रकार ईसामसीह ने भी धन को स्वर्ग-प्राप्ति में बाधा माना है। उन्होंने तो यहां तक कह दिया है कि 'एक ऊँट के लिए सूई के छिद्र में से गुजरना संभव हो सकता है, पर धनी व्यक्ति का स्वर्ग के द्वार में प्रवेश करना संभव नहीं है'।

आचार्य विश्वबन्धु जी के अनुसार 'सभी लोकोपकारी महात्मा-जन एवं सुधारक-जन अपने इर्द-गिर्द पाए जाने वाले पाखण्डों का निराकरण और उनके स्थान पर शुद्ध विचारों का प्रतिपादन किया करते हैं। उन सभी के मतानुसार मानव-जीवन सदा धर्म पर आधारित होना चाहिए। धर्म ही सब प्रकार के न्यायसंगत मानव-विकास की सच्ची जड़ है, जिसका विधिवत् सिंचन होते रहने से जीवन में सब प्रकार का सुधार पुष्पित और पल्लवित होता रहता है।'

धनी व्यक्ति के लिए स्वर्ग का द्वार इस कारण से बन्द रहता है, क्योंकि उसकी कामनाएँ उसे अधर्मी बना देती हैं। कामनाओं का दमन तो हो सकता है, पर वह अस्थाई होता है, समय पाकर वे पुनः जागृत हो जाती हैं। अतः कामनाओं का दमन करने के स्थान पर उनका परिष्कार किया जाना चाहिए। कामनाओं का परिष्कार व्यक्ति के अपने शुद्ध धार्मिक जीवन द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

प्राचीन संस्कृत-साहित्य में धर्म शब्द कर्म का ही पर्याय है। मीमांसा-दर्शन का सूत्र है 'अथातो धर्म-जिज्ञासा'। इस सूत्र द्वारा वेद-प्रतिपादित यज्ञ-क्षेत्रीय कर्त्तव्य-कर्मों एवं उनसे संबंधित बातों की व्याख्या की गई है। इससे ज्ञात हो जाता है कि उक्त सूत्र में कथित 'धर्म' शब्द 'कर्त्तव्य-कर्म' का ही पर्याय है। तैत्तिरीय आरण्यक के 'पुरुषो वाव यज्ञः' वचन द्वारा समस्त मानव-जीवन का ही आलंकारिक रूप से यज्ञ के रूप में वर्णन किया गया है। अर्थात्, मनुष्य के लिए जिन कर्म-स्वरूप आचार-व्यवहारों का पालन करना आवश्यक है, उसे मनुष्य का धर्म कहा जाता है।

भगवद्गीता के 'स्थित-प्रज्ञ' नामक प्रकरण में जब अर्जुन कृष्ण से पूछते हैं कि वह कैसे सोए, कैसे उठे और कैसे बोले तो भगवान् श्रीकृष्ण ने जो आगे उपदेश दिया है, उसका सारा भाव कर्त्तव्य-कर्म रूपी धर्म का पालन करने का ही है। केवल मन्दिर में जाना, पूजा-पाठ करना एवं सत्संग में सम्मिलित होना ही सच्चे धार्मिक-जीवन का निर्माण करने के लिए पर्याप्त नहीं है।

thearyasamaj.org

यह तो धार्मिक-जीवन की ओर प्रवर्तन करने की प्रथम सीढी-मात्र है। इसलिए पूजा-पाठ, सन्ध्या, हवन-यज्ञ, दान आदि जो भी कर्म-काण्ड है, वह सब सद्-धर्म की ओर जाने वाले मार्ग का प्रथम पड़ाव ही है। जब ऐसा कर्म-काण्ड करने वाला व्यक्ति अपने-अपको पूर्ण धर्मात्मा समझने लग जाता है, तो यह उसका मिथ्या अभिमान ही है। यह तो केवल उसका प्रथम पड़ाव ही है। यह कर्म-काण्ड रूपी धर्म का पालन तभी सफल हो पाता है, जब व्यक्ति अपना आचार-व्यवहार भी धर्म रूपी कर्त्तव्य के अनुसार बनावे।

जिस स्थान पर अच्छी भावानाएँ और अच्छे व्यवहार होते रहते हैं, वहां पर प्रवेश करते ही आदमी की आत्मा के ऊपर अच्छा प्रभाव पड़ने लग जाता है। उस स्थान की वायु ही और होती है। उस स्थान पर जाकर सब प्रकार की अशान्ति दूर हो जाती है। उस स्थान पर अच्छा प्रभाव इसलिए पड़ता है, क्योंकि उस स्थान पर जो लोग रहते हैं, उनके विचार, संस्कार एवं आचार-व्यवहार विशेष रूप से अच्छे होते हैं। ऐसे लोग जहां पर रहते हैं, वह स्थान वास्तव में तीर्थ ही होता है। अत: हमें जीवन के निर्वाह के लिए जो-जो भी कर्त्तव्य-कर्म करना पड़ता है, उसे हमें पूरी ईमानदारी के साथ पूरा करना चाहिए। यही कर्म-योग का सच्चा स्वरूप है।

आचार-व्यवहार के क्षेत्र में हिंसा की भावना हमें शान्ति से दूर रखती है। इस कारण मानव अपने चिरन्तन अनुभव से इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि विविध धार्मिक आचार-व्यवहार के अन्तर्गत हिंसावृत्ति को त्यागना और अंहिसा-वृत्ति को अपनाना ही अपना विशेष महत्त्व रखता है। मनुष्य के अन्दर हिंसा का भाव तभी पैदा होता है, जब वह ऐसा समझता है कि वह इसके द्वारा अपने विशेष स्वार्थ को पूरा कर सकता है। इसी कारण भर्तृहरि जी ने अपने जीवन में लोगों के आचार-व्यवहार को परख कर ऐसा परिणाम निकाला था। (नीतिशातक .75)

'कुछ मनुष्य इस प्रकार के सत्पुरुष होते हैं कि जो अपने स्वार्थ का परित्याग करके भी परहित करने में लगे रहते हैं। कुछ मनुष्य इस प्रकार के होते हैं, जो अपने स्वार्थ को हानि पहुँचाए बिना परहित के लिए पुरुषार्थ-शील होते हैं। अब कुछ मनुष्य इस प्रकार की राक्षसी-वृत्ति वाले होते हैं कि जो अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए परहित को हानि पहुँचाने में कोई कसर बाकी नहीं रखते। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी नीच वृत्ति वाले मनुष्य होते हैं, जो कि अपना भी कुछ सिद्ध नहीं कर पाते, पर दूसरों को भी हानि पहुँचाने से नहीं हटते।'

इसलिए जिन आचार-व्यवहारों को धर्म का नाम दिया जाता है, वह प्रथमकोटि के सद्जनों के आचार व्यवहार को समझना चाहिए। इसी प्रकार महाभारत में (अनुशासन पर्व 176-8) इस भाव को और अधिक स्पष्ट करने का यत्न किया गया है- 'हे युधिष्ठिर, जब मानव मन, वचन एवं कर्म द्वारा अहिंसा के न करने रूपी धर्म के पालन में

thearyasamaj.org

लगा रहता है, तो इस साधना के फलस्वरूप, वह अनिवार्य रूप से प्राप्त होते रहने वाले आध्यात्मिक, आधिभौतिक अथवा आधिदैविक दु:ख के सन्ताप से मुक्त हो जाता है। हिंसावृत्ति को सर्वप्रथम मन में उत्पन्न होने से और तत्पश्चात् वचन एवं कर्म के रूप में परिणत होने से रोके रखना चाहिए।'

जो मनुष्य हर-एक बात में यह ध्यान रखता है कि उसके किसी भी व्यवहार से दूसरे का मन न दु:खी हो तो उस व्यक्ति को अवश्य शान्ति प्राप्त हो जाती है। जो व्यक्ति ऐसा व्यवहार करता है, उसे ही सच्चा मानव कहना चाहिए। धर्म की यह मांग है कि मन, वचन एवं कर्म द्वारा सभी का भला ही किया जाए, किसी का भी बुरा न सोचा जाए। इस धर्माचरण का श्रीगणेश प्रथम अपने घर से ही करना चाहिए। अत: हम अपने घरों में ऐसा वातावरण बना कर रखें कि हमारे घर सच्ची शान्ति का रूप धारण कर लें। हमारा व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि दुष्ट व्यक्ति भी हमारे सम्पर्क में आकर सुधर जाए। व्यास जी ने महाभारत (महा.अनु.प. 113. 6) में कहा है- 'जो पुरुष सब लोगों को अपने जैसा समझने वाला हो जाता है, क्रोध को अपने बस में किए रहता है एवं किसी के भी प्रति क्रूरता का व्यवहार नहीं करता, वह सदा सुखी रहता है।'

अत: हमें सदा अपनी आत्म-परीक्षा करते रहना चाहिए कि कहीं हमारे अन्त:करण के किसी कोने में दूसरों को हानि पहुँचाने का भाव न पनपे। जिन साधकों का इस प्रकार की अहिंसा-वृत्ति को धारण करने का प्रयास सफल हो जाता है, उन्हें ही धार्मिक सज्जन या सन्त कहना चाहिए।

– साधु आश्रम, होश्यारपुर

सन्दर्भग्रन्थ :- डॉ. विश्वबन्धु - सत्संगसार, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, साधु आश्रम, होश्यारपुर -1971

thearyasamaj.org

धर्म और सामाजिक प्रगति

– प्रो. एस.एन.झारिया

विश्व में विभिन्न सभ्यताओं के आदिकाल से ही ''धर्म'' का प्रयोग स्पष्ट रूप में होने लगा था। विश्व-इतिहास के ज्ञाता ऑर्नाल्ड टॉयनबी ने लिखा है कि आदिकाल से धर्म मानव का मार्गदर्शन करता रहा है सम्भवत: भविष्य में भी यह मानव-स्वभाव का अवियोज्य अंग रहेगा। वास्तविकता भी यही है कि धर्म मानव-स्वभाव का गुण है। मानव-स्वभाव का अभिन्न अंग होने के कारण धर्म ने व्यक्ति को सदैव ही प्रभावित किया। फिर धर्म समाज में जन्मा, फूला और फला। अत: इसने समाज को भी निरंतर प्रभावित किया।

सामाजिक परिवर्तन के कारक :

सामाजिक परिवर्तन के अनेकों कारक होते हैं जैसे मनोवैज्ञानिक, भौतिक पर्यावरण, जनसंख्यात्मक, प्राणी-शास्त्रीय, सांस्कृतिक एवं प्रौद्योगिकीय कारक । ये सभी कारक परस्पर संबंधित होते हैं। इस शोधपत्र के संदर्भ में मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक कारक सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। मनोवैज्ञानिक कारणों से मनुष्य में वर्तमान सामाजिक संगठन से भिन्न किसी नवीन व्यवस्था को प्राप्त करने की इच्छा बनी रहती है। मनोवैज्ञानिकों ने इसे जिज्ञासा की मूल प्रवृत्ति का नाम दिया है। इस प्रवृत्ति के कारण मनुष्य सदैव नवीन खोज एवं अन्वेषण करता रहता है और इसके फलस्वरूप सामाजिक परिवर्तन होता रहता है। सांस्कृतिक कारक भी सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न करता है। प्रत्येक नवीन मूल्य एवं धारणा सामाजिक संगठन एवं व्यवस्था को प्रभावित करते हैं। मूल्यों एवं धारणाओं पर ही कार्य आधारित होते हैं और उनके परिवर्तित होते ही कार्य की दिशा भी परिवर्तित हो जाती है। सांस्कृतिक परिवर्तन और सामाजिक परिवर्तन में घनिष्ठ संबंध है और वे एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं।

धर्म का अर्थ :

धर्म का अर्थ है- ''धारणा करना''। अत: जिसको धारण किया जाय वही धर्म है। धर्म शब्द का प्रयोग उन नैतिक नियमों के लिये किया गया है जिसकी रचना समाज-धारण करने के लिये अध्यात्म दृष्टि से की गई है। जिससे समस्त प्रजाओं का धारण हो वही धर्म हैं अथवा जो विश्व में समस्त प्राणियों के कल्याण का कारण हो वही धर्म है।

धर्म का वर्गीकरण करने पर यह व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन से सम्बद्ध मिलता है। साधारण धर्म के रूप में सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धैर्य, साहस इत्यादि आते हैं। विशेष धर्म के रूप में व्यक्तिगत धर्म का पालन अर्थात् वर्ण-धर्म का पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य है। किन्तु धर्म का पालन जातिगत धर्म का पालन नहीं है बल्कि अपने गुण, कर्म व स्वभाव के अनुसार अपने कर्त्तव्यों का पालन करना है। वैदिक-काल में एक ही परिवार में विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न वर्ण-धर्म के पालन

thearyasamaj.org

का उदाहरण मिलता है जिसमें कहा गया है : मेरे पिता वैद्य हैं, मेरी मां चक्की चलाती हैं और मैं कवि हूँ। इस प्रकार विभिन्न कर्मों में लगे हुए व्यक्तियों के कारण वर्ण भेद होने से भी समाज में कही ऊँच-नीच या विघटन का संकेत नहीं मिलता। धर्म के इस विवेचन से स्पष्ट है कि धर्म व्यक्ति के व्यक्तित्व के समग्र विकास एवं समाज में सृजनात्मक परिवर्तन से संबंधित है।

धर्म और रिलीजन :

आज ''धर्म'' के नाम पर जो विवाद उत्पन्न हो रहे हैं उनकी पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात किया जाये तो भारत में ब्रितानीकाल से धर्म का अनुवाद रिलीजन के अर्थ में किया जाने लगा। रिलीजन लैटिन शब्द है जिसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है पुनः जोड़ना। इस तरह अनेकों लेखकों ने इसका अर्थ लगाया है कि रिलीजन आत्मा को परमात्मा से, व्यक्ति को समाज से या व्यष्टि को समष्टि से जोड़ने का काम करता है। किन्तु यथार्थ कुछ और है। रिलीजन का यह अर्थ व्यवहार में कहीं भी देखने को नहीं मिलता। रिलीजन का प्रयोग विभिन्न सम्प्रदायों या पंथों के लिये होता है। धर्म की तरह पाश्चात्य जगत् में इसका व्यापक प्रयोग कभी नहीं किया गया। अतः धर्म और रिलीजन में स्पष्ट रूप में भेद है और यही कारण है कि व्यक्ति को अपने धर्म के बाहरी पक्ष से संबद्ध होने पर उसे साम्प्रदायिक मान लिया जाता है। भारतीय धर्म में साम्प्रदायिकता के लिये कोई स्थान ही नहीं है। अगर ऐसा ही होता तो यूनानी, शक, हूण, मंगोल इत्यादि भारतीय संस्कृति को कैसे पचा लेते। लेकिन इतिहास साक्षी है कि ये सभी भारतीय संस्कृति में अभिन्न रूप में घुल-मिल गए। अतः स्पष्ट है कि धर्म और रिलीजन अलग-अलग अवधारणाएं हैं।

धर्म-निरपेक्षता :- (Secularism)

भारत को सेक्युलर गणराज्य कहा जाता है। इस शब्द के तीन अर्थ लगाए गए हैं :-

1. सभी धर्मों का सह-अस्तित्व
2. धर्म निरपेक्षता
3. ऐहिकता या लौकिकता

सेकुलरिज्म मानवतावादी धर्म है, और इस रूप में इसका अर्थ ''सभी धर्मों का सहअस्तित्त्व हो ही नहीं सकता है, क्योंकि परम्परागत धर्मों में पारलौकिकता पायी जाती है जिसे मानवतावाद स्वीकार नहीं कर सकता है। द्वितीय, परम्परागत धर्मों में परस्पर विरोध भी है कोई सूर्य भगवान् को जल चढ़ाता है तो अन्य धर्मों में इसे मूर्तिपूजा कहा जायेगा। ऐसी अनेक बातें है जिनमें पारस्परिक विरोध हैं। सबसे बड़ा झगड़ा तो उन धर्मों से उत्पन्न होता है जहां धर्म और राजनीति में अनिवार्य संबंध माना जाता है। जब तक सेकुलरिज्म का अर्थ सभी धर्मों का सहअस्तित्व माना जाएगा तब तक भारत में धार्मिक तनाव बना रहेगा। इसलिये आवश्यक है कि सेकुलरिज्म का अर्थ ऐहिकता या लौकिकता माना जाय।

धर्मनिरपेक्षता का अर्थ है कि राज्य की मांगों की पूर्ति करने में किन्हीं भी धार्मिक भावों की अपेक्षा नहीं की जाती है। उदाहरणार्थ वर्तमान युग में जनसंख्या विस्फोट को रोकना आवश्यक हो गया है। इस लिये भारत में नियम एवं कानून, जनमत-प्रसार इत्यादि के द्वारा परिवार-नियोजन पर जोर देना आवश्यक हो गया है। इस परिवार-नियोजन की राज्य आवश्यकता को धर्म के नाम पर नहीं रोकना चाहिए। परन्तु धर्म-निरपेक्षता में

thearyasamaj.org

इस बात की छूट है कि इस राज्य का नागरिक व्यक्तिगत रूप से किसी भी धर्म को अपनाये, पर धर्म के नाम पर राज्य-संचालन में धर्मों में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं होना चाहिये।

ऐहिकता के अनुसार लोककल्याण एवं मानवहित ही एकमात्र परम लक्ष्य है। जिसे विज्ञान, तकनीकी एवं औद्योगिकरण के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस रूप में ऐहिकतावाद पूर्णतया मानववादी है। अत: लोककल्याण हेतु भारत गणतंत्र में भी धर्मनिरपेक्षता का अर्थ ऐहिकतावाद को ही अपनाना चाहिये।

परम्परागत धर्मों में रूढ़िवादिता, असहिष्णुता तथा निरपेक्षभाव दिखाई देता है। प्रत्येक ईश्वरवादी समझता है कि उसके धर्म को छोड़कर अन्य सब धर्म व्यर्थ हैं। ऐहिकता में ईश्वर का कोई स्थान नहीं दिखाई देता है इसका कारण है कि विज्ञान एवं तकनीकी के आधार पर मानव अपनी ही बुद्धि के द्वारा अपनी समस्याओं का समाधान कर लेता है। उदाहरणार्थ आज अपनी चिकित्सा के लिये मानव प्रार्थना, तंत्र-मंत्र पर निर्भर नहीं रहता वरन् डॉक्टरों के कौशल पर विश्वास करता है। भारत में विज्ञान, तकनीकी और औद्योगिकरण के साथ ऐहिकता का विकास होना अनिवार्य है।

किन्तु ऐहिकतावाद में कुछ कमियां भी हैं। इसमें धार्मिक अनुभूति को कोई स्थान नहीं दिया गया है। ऑटो के अनुसार, रहस्यमय विस्मय पूर्ण पवित्र महान् की अनुभूति ही धार्मिक अनुभूति है। इसमें तर्कबुद्धि का स्थान नगण्य है परन्तु ऐहिकतावाद तर्कबुद्धि पर आश्रित रहता है।

परम्परागत धर्मों में व्यक्ति की पूर्णता पर बल दिया जाता है किन्तु सेकुलरिज्म में मानव-समाज को ही पूर्ण बनाने का आदर्श स्वीकारा जाता है। धर्म के पीछे हजारों वर्ष की संस्कृति और इतिहास जुड़ा है परन्तु सेकुलरिज्म औद्योगिकरण के इतिहास से जुड़ा है।

ऐहिकतावादी देशों में लोग देश-प्रेम, प्रकृति-प्रेम, विज्ञान-प्रेम, साहित्य-निर्माण, ललितकला इत्यादि के द्वारा अपने जीवन को उद्‌देश्यपूर्ण बनाने का प्रयास करते हैं। यहां प्रश्न उठता है कि मानव-जीवन का लक्ष्य क्या है? ईश्वरवादी के अनुसार ईश्वर की आज्ञा मानना, उसकी भक्ति करना और मोक्ष की प्राप्ति जीवन का परम लक्ष्य है। परन्तु ऐहिकतावादी इसके विपरीत ही अपना मत रखते दिखाई देते हैं।

धर्म एवं धर्म-निरपेक्षता :

धर्म एवं धर्मनिरपेक्षता के उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि दोनों में बहुत अन्तर है। धर्म जीवन के सभी अंगों से संबंधित है एवं पारलौकिकता इसमें अनिवार्य रूप से अन्तर्निहित है। वहीं धर्मनिरपेक्षता पारलौकिकता से कोई संबंध रखती हुई प्रतीत भी नहीं होती। प्रश्न उठता है कि धर्मनिरपेक्षता में धर्म का क्या स्थान है? क्या धर्म और धर्मनिरपेक्षता में कोई संबंध ही नहीं है? क्या धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा विदेशी आयातित वस्तु मात्र है? इन प्रश्नों का समाधान बहुत सरल भी प्रतीत नहीं होता। मुझे लगता है कि धर्म और धर्म-निरपेक्षता दोनों एक दूसरे के परस्पर पूरक हैं। वस्तुत: धर्म का लक्ष्य इहलौकिक एवं पारलौकिक कल्याण है और धर्मनिरपेक्षता का लक्ष्य इहलौकिक कल्याणमात्र है। वर्तमान काल में तकनीकी प्रगति, औद्योगीकरण और शहरीकरण के बीच में व्यक्ति इहलौकिक कल्याण में संलग्न ही मिलता है।

thearyasamaj.org

प्रो. एस. एस. झारिया

इसमें महत्वपूर्ण बात यह नहीं है कि धर्म-निरपेक्षता विदेशी है या स्वदेशी बल्कि यह महत्वपूर्ण है कि समाज की उपयोगिता के अनुसार इसे अपनाना चाहिए या नहीं।

मैं समझता हूँ यदि धर्मनिरपेक्षता को ऐहिकतावाद के रूप में मान्यता दी जाये तो यह धर्म के वास्तविक स्वरूप को भी स्पष्ट करने में सहायक बनता रहेगा। क्योंकि ऐहिकता को मान्यता मिल़ने पर विज्ञान, तकनीकी व तर्क को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होगा। उदाहरण के लिये, ग्रामीण व महानगरीय समाज में बहुत अधिक अन्तर पाया जाता है। ग्रामों में जाति-भेद, ऊँचनीच, अस्पृश्यता, बालविवाह इत्यादि अभी तक समाप्त नहीं हुआ है इसे भी धर्म के नाम पर जोड़ दिया जाता है भले ही तथ्य कुछ भी हो। किन्तु महानगरों में जाति, धर्म इत्यादि विषय अब धीरे धीरे कम होते जा रहे हैं।

धर्म और वर्तमान समाज :

उपरोक्त विवेचन के आधार पर वर्तमान समाज में धर्मनिरपेक्षता अधिक प्रासंगिक प्रतीत होती है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि धर्म-निरपेक्षता को मान्यता देने से धर्म का महत्व कम हो जाता है। क्योंकि महानगरों में भौतिकतावाद के दुष्परिणाम सामने आने लगे हैं जिनसे बचने के लिये व्यक्ति आध्यात्मिकता की ओर आ रहा है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मानव अपनी नैसर्गिक प्रवृत्ति अर्थात् धर्म से विमुख होकर स्वाभाविक जीवन व्यतीत कर ही नहीं सकता है। किन्तु धार्मिक प्रतीकों, स्थलों व ग्रंथों में आस्था रखना मात्र धर्म नहीं है। तथाकथित धार्मिक व्यक्ति यहीं पर धर्म की इतिश्री मान लेते हैं और ''धर्मरक्षा'' या ''जिहाद'' जैसी आत्मविरोधी क्रियाओं में भाग लेने के लिये आँख मूँदकर कूद पड़ते हैं। वो धर्म धर्म ही क्या जो स्वयं की रक्षा न कर सके। वो ईश्वर ईश्वर कैसा जो अपनी सुरक्षा स्वयं न कर सके और जिसकी सुरक्षा के लिये पुलिस या सेना को सख्त पहरा देना पड़े। धर्म व्यक्ति में अंतर्निहित होता है इसी तरह ईश्वर भी चेतना के रूप में सम्पूर्ण प्राणियों में अंतनिर्हित है। अत: धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या की जानी चाहिये और ज्ञान व विज्ञान के प्रचार-प्रसार द्वारा धर्म के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट किया जाना चाहिए। जो कि सभी के लिये बुद्धिगम्य हो।

अत: स्पष्ट है कि सामाजिक प्रगति तभी संभव है जब धर्म में मानवतावाद को प्रमुख स्थान प्रदान किया जाय। धर्म जोड़ने का काम करता है तोड़ने का कभी नहीं। धर्म में ऊँच-नीच, जातिभेद इत्यादि का कोई स्थान नहीं होता। धर्म पंथों या सम्प्रदायों में न होकर आत्मसाक्षात्कार में है- इस अनुभूति के बाद ही सभी प्राणियों में एक ही आत्मा का साक्षात्कार संभव है। अनुभूति पर आधारित व्याख्या मानवतावाद का मार्ग प्रशस्त करेगी। धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने पर प्रत्येक व्यक्ति का जीवन सार्वभौमिक कल्याण से परिपूर्ण होगा। धर्म का स्थान मानवहृदय है। मानव की सद्भावनाओं को ईश्वर की तरंगें मान लेने पर मंदिर, मस्जिद के झगड़े समाप्त हो जायेंगे। मानवता की पूजा को धर्म का लक्ष्य मान लेने पर भारत में ही क्या सम्पूर्ण विश्व-समाज में एकता, शांति और सौहार्द्र स्थापित होगा।

-शोध व स्नातकोत्तर, दर्शन विभाग, शा. महा. छतरपुर।

thearyasamaj.org

महाकवि अश्वघोष के महाकाव्यों में पौराणिक, शास्त्रीय उपमान

– डॉ. राजकुमार महाजन

अश्वघोष ने कालिदास की ही भान्ति पौराणिक गाथाओं का भी पर्याप्त उपयोग किया है। वस्तुतः ये गाथाएँ किसी देश-जाति व सम्प्रदाय-विशेष की अपनी अमूल्य निधि होती हैं। इनमें ही उनके जीवन को प्रकाश मिलता है। इनके पात्र उनके आदर्श होते हैं और इनकी घटनाएं उनके जीवन का मार्गदर्शन करती हैं। अतः वे उनके जीवन और व्यवहार के साथ इस प्रकार घुली-मिली रहती हैं कि उनके किसी पात्र या घटनाविशेष का उल्लेख मात्र करने से ही उससे सम्बन्धित सभी कुछ प्रत्यक्षवत् जाग उठता है। जब उपमान के रूप में इनका प्रयोग किया जाता है तब ये न केवल अपने से सम्बन्ध रखने वाली एक घटना-विशेष व घटना-शृंखला का ही प्रत्यक्ष दर्शन कराते हैं, अपितु उपमेय की भी स्थिति को स्पष्टतर कर डालते हैं।

अश्वघोष के महाकाव्यों में इन्द्र, कुबेर, बृहस्पति, महादेव, वामदेव, वसिष्ठादि पौराणिक उपमानों का प्रयोग शुद्धोदन, सिद्धार्थ, नन्द तथा अन्य पात्रों के लिए हुआ है। राजा शुद्धोदन के समृद्धिपूर्ण राज्य के लिए नहुष के पुत्र ययाति[1], अनरण्य[2] तथा सूर्यपुत्र मनु[3] के राज्य से अश्वघोष ने सम्बन्ध जोड़ा है। कपिलवस्तु नामक नगर का उल्लेख करते हुए अश्वघोष ने उसे ककन्द, मकन्द, और कुशाम्ब के नगरों से उपमित किया है।[4] एक अन्य स्थान पर कपिलवस्तु के सौन्दर्य को प्रकट करते हुए अश्वघोष कहते हैं कि राजकुमार के जन्म से जनपदों सहित कपिल नामक नगर इस प्रकार प्रमुदित हुआ जैसे नलकूबर के जन्म से अप्सराओं से पूर्ण कुबेर का नगर[5]। एक अन्य स्थान पर कुरु, रघु और पुरु के नगर से कपिल नगर की तुलना की गई है[6]।

आदर्श जोड़े के रूप में इन्द्र और इन्द्राणी का उल्लेख भी कवि ने किया है :- "अत्यन्त सुन्दर शरीर से देदीप्यमान सनत्कुमार के सदृश उस राजकुमार ने उस शाक्य नरेन्द्र की वधु के साथ इन्द्राणी के साथ इन्द्र की भान्ति रमण किया[7]।" इसके अतिरिक्त ऐश्वर्य, प्रताप, शक्ति आदि के भावों की अभिव्यक्ति के लिए इन्द्र को अनेक स्थनों[8] पर उपमान के रूप में प्रस्तुत किया गया

1. बुद्धचरित 2/11
2. वही 2/15
3. वही 2/16, 3. 41
4. सौन्दरनन्द 1/56
5. बुद्धचरित 1/89
6. सौन्दरनन्द 3/42
7. बुद्धचरित 2/27
8. सौन्दरनन्द 1/61, 62, 2/45, 4/46, बु. 1/87, 5/45, 27, 7/3, 10/51, 11, 70

thearyasamaj.org

है। इसी प्रकार तपस्विता भाव को अभिव्यक्त करने के लिए काक्षिवान् गौतम[9] काश्यप[10] वसिष्ठ[11], दीर्घतपस काव्य और अंगीरस[12], पराक्रम भाव को अभिव्यक्त करने के लिए पाण्डव[13] तथा यशस्विता की अभिव्यक्ति के लिये ययाति के पुत्रों[14] को उपमान रूप में प्रयुक्त करके अश्वघोष ने विविध पौराणिक उपमानों के प्रति अपनी विशेष रुचि प्रदर्शित की है। राजा की पत्नी माया के शील-स्वभाव को व्यक्त करने के लिए स्वर्ग में रहने वाली माया नामक देवी को[15] उपमान रूप में प्रयुक्त किया है।

शिव[16] और कार्तिकेय[17] भी अनेक स्थलों पर उपमान रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जिससे प्रतीत होता है कि अश्वघोष बौद्धधर्म के अनुयायी होने के साथ-साथ शिवभक्त भी अवश्य थे।

इस प्रकार अश्वघोष ने शुद्धोदन, सिद्धार्थ आदि पात्रों के विविध गुणों की अभिव्यक्ति के लिए अनेक पौराणिक गाथाओं में उपमानों को ढूंढकर अपने महाकाव्यों में प्रस्तुत किया है। परन्तु इन पौराणिक उपमानों में शब्दों की मितव्ययता इतनी है कि पाठक को केवल पौराणिक संकेत तो मिल सकता है। परन्तु एक पूरे कथानक व घटना को एक शब्द में ही प्रयुक्त करने पर सर्वसाधारण अथवा पौराणिक सभ्यता एवं संस्कृति से अपरिचित व्यक्ति के लिए उसे समझना या उसके सौन्दर्य को हृदयंगम करना पर्याप्त कठिन हो जाता है।

शास्त्रीय उपमान :-

अश्वघोष की कविताओं के अध्ययन से उनके शास्त्रीय पाण्डित्य का पूर्ण परिचय मिलता है। उन्होंने व्याकरण-शास्त्र तथा आयुर्वेद-शास्त्र से गृहीत कतिपय उपमानों को अपने महाकाव्यों में प्रयुक्त किया है।

व्याकरण-शास्त्र से गृहीत उपमान :-

अश्वघोष ने सौन्दरनन्द में दो स्थलों पर व्याकरण सम्बन्धी उपमान प्रयुक्त किए हैं। अश्वघोष संवेग के विषय में कहते हैं कि यह संवेग बुद्ध के श्रेयः की वृद्धि के लिए ही हुआ, जैसे व्याकरण के पंडितों के अनुसार एधि धातु की वृद्धि धातु रूप में होती है[18]। नन्द के विषय में कहते हैं कि काम-भावना के कारण किसी भी समय में उसने किसी तरह धैर्य धारण नहीं किया जिस प्रकार "अस्ति" निपात का प्रयोग तीनों कालों (भूत, वर्तमान, भविष्य) में होता है[19]। इस प्रकार इन दो उद्धरणों से अश्वघोष के व्याकरणिक ज्ञान का पूर्ण अभिज्ञान होता है।

आयुर्वेद-शास्त्र से गृहीत उपमान :-

अश्वघोष ने बौद्ध-धर्म की दार्शनिक प्रवृत्तियों को सरल ढंग से जन-सामान्य की चेतना से परिचित कराने के लिए तथा व्याधि और औषधि के रूप में मानसिक भावों को अभिव्यक्त करने के लिये उपमानों का प्रयोग प्रचुरता से किया है। उन्होंने पग पग पर रोग, रोगी, औषधि, वैद्य

9. सौन्दरनन्द 1/1
10. वही 1/2
11. वही 1/3
12. वही 1/4
13. बुद्धचरित 10/71
14. सौन्दरनन्द 1/59
15. वही 2/49
16. बुद्धचरित 1/88,10/33
17. वही 1/61/88
18. सौन्दरनन्द 12/9
19. वही 12/10

thearyasamaj.org

का क्रमशः दोष, व्यक्ति, साधन तथा उपदेशक के लिए व्यवहार किया है। कफ, पित्त तथा वात का उपमान रूप में वर्णन[20] सौन्दरनन्द में विशेष उल्लेखनीय है। रोग के विषय में अश्वघोष कहते हैं कि जिस प्रकार (रोग के) प्रतिकार के सुख की इच्छा से कोई व्यक्ति रोग की अभिलाषा करता है, उसी प्रकार नन्द विषयों की तृष्णा से दुःख की खोज कर रहा है[21]। रोगी के विषय में भी अनेक उपमान दृष्टिगोचर होते हैं। कवि कहता है कि जिस प्रकार मरणासन्न रोगी हितेच्छु वैद्य की बात नहीं सुनता है, उसी प्रकार बल, रूप और यौवन से मत्त हुये नन्द ने उस भिक्षु के हितकर वचन को ग्रहण नहीं किया[22]। एक अन्य स्थान पर अश्वघोष कहता है कि स्वर्ग की तृष्णा से निवृत्त हुआ वह नन्द तुरन्त स्वस्थ हो गया जैसे जीवित रहने की इच्छा वाला रोगी स्वादिष्ट अपथ्य से विरत होकर शीघ्र स्वस्थ हो जाता है।[23] मोक्ष के विषय में कवि उपमान देते हुए कहता है कि जिस प्रकार दूसरे मोक्ष चाहने वाले साधुजन भी मोक्ष के लिए दूसरे के उपाय को सुनकर उसी मार्ग पर सुखपूर्वक अनुगमन उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार रोगी व्यक्ति रोग से मुक्त होने के उपाय को सुनकर उसी उपाय में प्रयत्नशील होते हैं[24]।

औषधि को दो तीन स्थल पर उपमान रूप में प्रयुक्त हुआ देखा जा सकता है। प्रिय और हितकर वचन पथ्य एवं स्वादु औषधि के समान दुर्लभ होते हैं[25]। औषधि को निर्वाण पथ पर पहुँचने के लिए साधनरूप में लिया गया है। अश्वघोष कहते हैं कि मनुष्य को वितर्कों के विनाश के लिए प्रतिपक्षों का सेवन अर्थात् चिन्तन उसी प्रकार करना चाहिए जिस प्रकार रोगों की औषधि का सेवन किया जाता है[26]। नन्द के द्वारा सही मार्ग अपना लेने पर बुद्ध की प्रशंसा करते हुए नन्द कहता है कि मेरे द्वारा कामरूपी विष मद के कारण आस्वाद के वशीभूत इन्द्रियों के द्वारा पिया गया था जिस प्रकार विनाशकारी विष महौषधि से नष्ट कर दिया जाता है[27]। वैद्य को साधक के रूप में माना गया है। अश्वघोष ने भी बुद्ध को साधक के रूप में प्रस्तुत करने के लिये वैद्य के साथ उसे उपमित किया है। बुद्ध नन्द को उपदेश देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार वैद्य रोगी को पकड़कर उसे अप्रिय औषधि देता है, उसी प्रकार मैंने यह अप्रिय किन्तु परिणामतः हितकारी वचन तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करके कहा है[28]। एक अन्य स्थान पर बुद्ध कहते हैं कि जिस प्रकार शरीर से दोषों को दूर करने के लिए वैद्य और अधिक कष्ट देने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार उसका राग नष्ट करने की इच्छा से मुनि ने उसमें

---

20. सौन्दरनन्द 16/69
21. वही 11/28
22. वही 9/2
23. वही 18/13
24. वही 12/6
25. वही 11/16
26. वही 15/65
27. वही 13/9
28. वही 5/48

thearyasamaj.org

और भी अधिक राग उत्पन्न किया[29]।

इस प्रकार अश्वघोष ने बौद्ध धर्म की दार्शनिक प्रवृत्तियों को सरल ढंग से जनसामान्य की चेतना से परिचित कराने के लिए आयुर्वेद के सरल और प्रभावपूर्ण उपमान यथा रोग, रोगी, औषधि तथा वैद्य को क्रमशः विषयादि, नन्द, शील प्रज्ञा समाधि आदि त्रिस्कन्ध तथा बुद्ध-इन चारों उपमेयों के लिए प्रस्तुत किया है। इन उपमानों से बौद्धधर्म के चार आर्य-सत्यों पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

– एम. एम. डी. डी. ए. वी. महाविद्यालय, गिद्दड़बाहा।

---

29. सौन्दरनन्द 10/43

thearyasamaj.org

हम कौन थे, क्या हो गए !

– प्रि. उमेश चन्द्र शर्मा

कौन थे ?

एक लोकप्रिय फिल्मी गीत है– 'हम उस देश के वासी हैं जिस देश में गंगा बहती है....।' और वह देश भारत देश है– हमारा प्यारा भारतवर्ष जहां विश्व के किसी भी अन्य देश में पदार्पण करने से पूर्व विवेक ने अपना बसेरा किया था। यह वही सनातन धरती है जिस पर मनीषी-ऋषियों की चरण-रेखाएं खिंची हैं। आत्मा की अनश्वरता और मानव तथा दृश्य-जगत् में वर्तमान सर्वव्यापक नियंता के सिद्धान्तों का उदयाचल भी यहीं है और इसी देश में धर्म तथा दर्शन के उच्चादर्श पराकोटि को प्राप्त हुए। स्वामी विवेकानंद के शब्दों में "भारतीय जीवन तब भी सक्रिय था जब कि यूनान का अस्तित्व ही नहीं था, रोम की जब किसी ने कल्पना ही नहीं की थी और वर्तमान यूरोप-निवासियों के पूर्वज जब कि अभी वनों में ही भटकते फिरते थे और असभ्य थे। इससे भी पूर्व इतिहासकारों के पास भी जिसका कोई प्रमाण नहीं तथा वे भी अतीत के ज़िस अन्धकार में झांकने का साहस नहीं करते, उस समय से लेकर आज तक इस देश की विचार-परम्परा अक्षुण्ण और अबाध गति से प्रवाहित होती रही है ।"

कहते हैं 'अन्य देश मनुष्यों की जन्म-भूमि है, यह भारत मानवता की जन्म-भूमि है।' वस्तुतः भारत दर्शन की जन्म-भूमि है, नीति-शास्त्र की जन्म-भूमि है, आध्यात्मिकता की जन्म-भूमि है और जन्म-भूमि है माधुर्य और प्रणय की। यह वही भारत है 'जिसने सदियों के आघातों को सहन किया है, सैंकड़ों विदेशी आक्रमणों का सामना किया है और शील तथा रीति-रिवाज संबंधी अनेक आरोह-अवरोहों में अपनी रक्षा की है। विश्व की चट्टान से भी अधिक सुदृढ़ और निश्चल यह वही भारत-भूमि है जिसकी प्रकृति ठीक वैसी है जैसी आत्मा की– अनादि, अनंत एवं शाश्वत।'

उर्दू के सुप्रसिद्ध शायर सर मोहम्मद इक़बाल द्वारा किया गया भारत-देश का गौरव-गान, उसी भारत की (जो हिन्दुस्तान के नाम से भी जाना जाता है) महानता का, महत्ता का द्योतक है, परिचायक है :-

'यूनान-ओ-मिस्त्रो-ओ रोमां सब मिट गए जहां से
अब तक मगर है बाक़ी नाम-ओ-निशां हमारा।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,
सदियों रहा है दुश्मन दौर-ए-ज़मां हमारा।
हिन्दी हैं हम वतन है हिन्दुस्तान हमारा।'

प्रसंगानुकूल कविवर जयशंकर प्रसाद की ये पंक्तियां भी सहसा स्मरण हो उठी हैं–

'अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहां पहुँच अनजान क्षितिज को
मिलता एक सहारा.....।'

यह देश मधुमय इसलिए है कि यह केवल

thearyasamaj.org

प्रकृति-नटी का एक रम्य क्रीड़ास्थल ही नहीं है, अपितु उन लोगों का निवास-स्थान है, रंगभूमि है और कर्मभूमि है जो न किसी के अधीन रहते हैं और न किसी को अधीन रखते हैं, स्वराज्य में विचरते हैं और अमृत होकर जीते हैं- **'तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय !'** जिनका आदर्श है- जो विश्व को अभय दान देते हैं और समूचे संसार को, सकल विश्व को अपना परिवार मानतें हैं- 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और सब के स्वास्थ्य और सुख और भले की मंगलकामना करते हैं- **'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।'** ये ही उनके आदर्श वाक्य रहे हैं। यही मानवीय भावना है जो उनमें व्याप्त है, यही उदारता है, यही तपोनिष्ठा है जिसमें वे आप्त हैं। इसी में भारतीय संस्कृति का समुज्ज्वल स्वरूप छिपा है, तथा 'जियो और जीने दो' का सिद्धान्त निहित है।

इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि विश्व की समस्त जातियों में हम भारतीय ही ऐसे हैं जिन्होंने कभी किसी देश पर आक्रमण नहीं किया, कभी किसी के विनाश पर अपने विकास की नहीं सोची और शायद उसी वरदान के परिणाम स्वरूप हम आज भी जीवित हैं, जब कि विश्व में सीमा-विस्तार के लिए, बल-प्रदर्शन के लिए, किसी सुन्दरी विशेष के लिए, यहां तक कि धर्म के आधार पर कितने भयंकर और विनाशकारी युद्ध हुए, कितने राज्य मिट गए, कितना रक्तपात हुआ, नृशंसता एवं बर्बरता का कितना नग्न नृत्य हुआ और इस तरह मानवता की सार्वभौम भावना का लोप होता रहा है।

भौगोलिक दृष्टि से भी भारत एक विशाल देश था। हिमालय के उत्तुंग शिखरों से लेकर, कुमारी अन्तरीप तक फैला भारत किसी समय जावा, सुमात्रा, मॉरिशस, मलेशिया, इण्डोनेशिया, भूटान और नेपाल तक विस्तृत महाभारत था और उसी भारत में से पाकिस्तान और पाकिस्तान में से बंगला देश-ये दोनों देश तो हमारे देखते-देखते हाल ही में अस्तित्व में आए हैं।

ज्ञान, विज्ञान, नीति, दर्शन-शास्त्र, साहित्य, संगीत और कला तथा वास्तुकला में भारत विश्व का सिरमौर था। आर्थिक दृष्टि से भी सर्वथा समृद्ध, सम्पन्न एवं समुन्नत होने के कारण भारत सोने की चिड़िया कहलाता था और इसीलिए विदेशी आक्रामकों के आकर्षण का केन्द्र रहा है।

आध्यात्मिकता में तो भारत सदैव अग्रणी रहा है- विश्वगुरु। वेद, उपनिषद् एवं पुराणों की धरती, रामायण और महाभारत की धरती, श्रीमद्भगवद्गीता की धरती, वीरयोद्धाओं की धरती, ऋषि-मुनियों, साधु-सन्तों, पीर-पैग़म्बरों की धरती और गुरुओं की धरती यह भारत अपने गौरवपूर्ण और वैभवशाली अतीत के आधार पर विश्व के इतिहास में अपनी एक अलग पहचान और साख रखता है।

अर्वाचीन से दूर, मध्ययुग से भी परे हम भारतीयों का वह अतीत आदर्श है जिसमें मैत्रेयी एवं गार्गी तथा भारती सरीखी स्त्रियां दर्शनों का आलोड़न-विलोड़न किया करती थीं, लीलावती की भाँति उच्चकोटि के गणित का अवगाहन-पारायण किया करती थीं। एक सीता की अनुपस्थिति में यदि कोई राम अश्वमेध यज्ञ रचता था तो सीता की स्वर्ण-प्रतिमा को पार्श्व में

thearyasamaj.org

प्रतिष्ठित करके यजमान बन सकता था। नारी के इस गर्व और गौरव के कारण ही शिव को अर्धनारीश्वर कहा गया। उपासना करते समय **'त्वमेव माता च पिता त्वमेव'** कहकर नियंता के नारी रूप की पहले आराधना-उपासना की गयी, नर रूप की बाद में। सुरसरिता गंगा को मां कहा गया, जन्म-भूमि को जननी। समाज-शास्त्री मनु ने **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता:'** अंर्थात् जहां नारियों की पूजा होती है, देवता लोग वहाँ आनंदपूर्वक वास करते हैं, कहकर नारी का अभिनंदन किया था।

यह था हमारा समुन्नत, समुज्ज्वल और स्वर्णिम अतीत।

क्या हो गए ?

समय सदा एक-सा नहीं रहता। संसार सरकता रहता है, निरन्तर बदलता जाता है। परिवर्तन प्रकृति का अकाट्य नियम है। युग बदलता है तो जीवन में भी परिवर्तन आता है। अत: देश और काल की सापेक्षता में गति का नाम ही तो जीवन है। प्रकृति को एक मंच और जीवन को इस मंच पर एक अभिनेता के रूप में गतिशील देखना जैसे एक विराट् नाटक को देखना है। इस नाटक में 'था' यानी भूत अथवा अतीत है; 'है' यानी वर्तमान या अर्वाचीन और हो सकने की संभावना में दशा व दिशा है तो विगत, वर्तमान और भविष्य में- अतीत, अर्वाचीन और अनागत में उस देश की कालगत गति है। इस गति के अनुक्रम में बीते कल, बीत रहे आज की पकड़ व पहचान जहां इतिहास है, वहां आने वाले कल की कल्पना को सार्थक करने में जुटना ही जीवन को गति देना है। यह गतिशीलता निरंतर बनी रहती है

कहते हैं **'गतं न शोचामि'**....जो बीत गयी सो बात गई। यह भी सुना है कि अतीत की ओर देखने वाले पिछड़ जाते हैं और यह निरर्थक है, अत: हमें अनागत की ओर ही देखना चाहिए। लेकिन नहीं, जहां तक हो सके, पीछे देखो और सनातन स्रोतों की गहराइयों का अवगाहन करने के बाद आगे देखो, आगे बढ़ो और अपने आपको, अपने समाज और देश को महात्तम, उच्चतम और उज्ज्वल बनाओ। हमें यह सदा स्मरण रहना चाहिए कि हमारे पूर्वज महान् थे, हमारा देश महान् था। हमें अपने जीवन के घटक तत्त्वों से, उस रक्त से, जिसका हमारी धमनियों में संचार है, अवश्य परिचित होना चाहिए ; उस शोणित में, और उस द्वारा सम्पन्न कार्य में हमारी आस्था अवश्य होनी चाहिए और अतीत के वैभव में आस्था और उसके चिन्तन द्वारा ही हम वर्तमान परिस्थितियों की प्रतिकूलता की चुनौती को स्वीकारते हुए भावी भारत का वांछित निर्माण कर पाएँगे- अतीत और अर्वाचीन के तुलनात्मक अध्ययन और उस पर चिन्तन-मनन द्वारा ही अनागत की सही रूपरेखा खींच सकेंगे। इसी संदर्भ में स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रकवि और 'भारत-भारती' के अमर गायक श्री मैथिलीशरण गुप्त की ये पंक्तियां याद आती हैं कि-

हम कौन थे, क्या हो गए और क्या होंगे अभी ?
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।।

– ईशा निवास, शिव-शक्ति नगर, ऊना रोड़, होशियारपुर

thearyasamaj.org

अनासक्ति का अर्थ निष्क्रियता नहीं, निष्काम कर्म है

– श्री अशोक भाटिया

कोई भी प्राणी किसी भी समय बिना कर्म किये नहीं रह सकता । शरीर, वाणी या मन का कोई कर्म अवश्यमेव होता ही रहता है। प्रकृतिजनित गुणों से विवशतापूर्वक कर्म कराया ही जाता है। अत: सर्वथा कर्म-परित्याग असंभव ही है। प्रकृतिजनित गुण-सत्, रज और तम-तीन हैं। इनमें रज क्रिया-रूप ही है और तीनों परस्पर सम्मिलित ही रहते हैं। केवल एक विशुद्ध भाव से पृथक् कभी नहीं मिला। अत: सत्त्व और तम भी रज के अनुवेद के कारण क्रियारूप ही हो जाते हैं। स्त्री-गुणात्मक प्रकृति का आत्मा के साथ नित्य संबंध है। अत: आत्मा भी नित्य कर्मशील ही रहती है, वह कर्मरहित किसी भी क्षण नहीं हो सकती। जब हम समझते हैं कि हम कार्य नहीं कर रहे उस समय भी मन के संकल्पादि अनेकानेक कर्म चलते ही रहते हैं। जागृत और स्वप्नावस्था में इस प्रकार के कर्मों का तांता लगा ही रहता है। और बाह्य दृष्टि से तो सम्पूर्ण जगत् ही परिचालित है। इसके विषय में तो यहाँ तक कहा गया कि जिस प्रकार किसी पानी में दोबार गोता नहीं लगाया जाता है। इसी प्रकार एक ही वस्तु को दोबार नहीं पकड़ा जा सकता है।

ऐसी स्थिति में प्राणी में भी एकरूपता कैसे रह सकती है। कैसे व्यक्ति कर्म किए बिना रह सकता है। बिना कर्म के तो क्षण-भर भी रहना असंभव है। ऐसी स्थिति में निष्काम-कर्म कैसे संभव है। अत: यह समझना चाहिए कि जब कर्म अपने शरीर, इन्द्रियों, मन तथा भोक्ता की तृप्ति हेतु किया जाता है, तब वह सकाम होता है। किन्तु जब कर्म ग्राम,प्रान्त, राष्ट्र, धर्म, विश्व या विराट् के लिये किया जाता है, तो वह निष्काम-कर्म है तथा ईश्वर के लिये किया जाता है तो वह निष्काम कर्म है। इसी प्रकार जहां भी ईश्वर-भाव से अथवा अन्य किसी सेवादि भाव से कर्म किया जाता है तो वह निष्काम कर्म है। अपने इष्टदेव की संतुष्टि-हेतु अथवा अंत: करण की शुद्धि के प्रयोजन से किया जाने वाला कर्म भी निष्काम-कर्म है। जहां व्यक्तिगत अथवा सामूहिक स्वार्थ, व्यक्तिगत अथवा सामूहिक कामना की पूर्ति इष्ट नहीं है, अर्थात् जो सबके हित के लिए कर्म किया जाता है, वह निष्काम-कर्म है।

'निष्काम-कर्म' शब्द श्रवण करते ही एकाएक हमारी दृष्टि धर्म-ग्रन्थों के तेजस्वी हीरे श्रीमद्भगवद्गीता पर जा पड़ती है। गीता का दर्शन वैदिक दर्शन पर आधृत है, जिसमें यज्ञ (कर्म यज्ञ) को अधिक महत्व दिया गया है। यज्ञ वस्तुत: समर्पित कर्म का ही प्रतीक है। जीवन को यज्ञमय बना सकने पर ही मनुष्य दु:ख-ताप रहित

thearyasamaj.org

अटूट आनन्द प्राप्त कर सकता है। यद्यपि कर्म से अनासक्त होने अर्थात् निष्काम-कर्म की प्रेरणा वेद से मिलती है- ''कुर्वन्नेवेह कर्माणि ज़िजीविषेत् शरदः शतम्।'' कालान्तर में यही सिद्धान्त उपनिषदों में भी वर्णित हुआ है। किन्तु इसका विस्तृत वर्णन गीता में भी प्राप्य है। यह सिद्धान्त स्वयं में इतना सारगर्भित है, अपने अन्तराल में इतने व्यापक परिवेश को सहेजे हुये है कि समस्त दर्शन-न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, जैमिनि की पूर्व-मीमांसा और वादरायण की उत्तर-मीमांसा धर्मसूत्र एवम् विधि मत-मतान्तरों के लिये यही एक सिद्धांत अन्धे की लाठी बना हुआ है।

प्रतिपाद्य विषय पर विचार करने से पूर्व अनासक्ति की आवश्यकता और महत्ता पर विंचार कर लेना भी असंगत न होगा। क्या आसक्त होकर, नाना विषयों में प्रवृत्त होकर व्यक्ति अपना जीवन सफल और सुखमय बना सकता है ? उत्तर बड़ा ही सहज है। जब तक चित्त में विषयासक्ति है, तब तक चित्त को वश में करना दुष्कर है। यहां यह भी ध्यातव्य है कि समग्र सांसारिक विषय दुःखरूप हैं। इसी कारण श्रीकृष्ण ने गीता में सांसारिक भोगों को दुःखमूलक, तुच्छ एवम् क्षणिक बतलाकर यह कहा है कि बुधजन इनमें नहीं रमते (गीता, श्लोक 5-22)। विषयों में जो मूर्ख रमता है, उसका समय और धन व्यर्थ जाता है, उसका जीवन पापमय होता है। अतः चित्तवृत्तियों को विषयों से विमुख करने का यत्न सदैव करते रहना चाहिये। समस्त सांसारिक भोगों में दुःख-दोष का अनुभव करना चाहिये, क्योंकि विषयों का भोग विष-भक्षण से भी अधिक बुरा है।

जब विषय क्षणिक है, असुख है और विषरूप है तो स्थायी सुख-प्राप्ति कहां और कैसे संभव है, यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है। साधारण व्यक्ति का दो टूक जवाब यही होगा कि ऐसी स्थिति में निक्रिय होकर बैठने , संसार व जीवन से पलायन करने और संन्यास धारण करने में ही सुख निहित है। दूसरी और ज्ञानीपुरुष सूक्ष्मता से विचार करते हुये स्पष्ट करते हैं कि संन्यास ऐसे कर्मों का त्याग है जिसमें स्वार्थ की भावना लिपटी हुई हो, और त्याग का अर्थ है फलेच्छा रहित, निष्काम-भाव से कर्म की ओर प्रेरित होना।

विवेच्य मनोवैज्ञानिक सिद्धांत का विकास वास्तव में अर्जुन की कर्म से विरक्ति की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ है। युद्ध-क्षेत्र में विपक्षी सेना में अपने समस्त संबंधियों को देख अर्जुन का हृदय कांप उठता है। वह कर्म से परांगमुख हो रहा है, हाथों से गांडीव गिरने को है। वह हिंसा से अहिंसा पर उतर आता है, और फिर तो वह संन्यासी की ही भाषा में बोलने लगता है। उस समय अर्जुन-सारथी भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे जो उपदेश दिया, वह यही था कि अनासक्ति का अर्थ निष्काम-कर्म है, निष्क्रियता नहीं। 'युद्ध करना ही क्षत्रिय का धर्म है, और युद्ध बिना प्रयत्न के

thearyasamaj.org

स्वर्ग का खुला हुआ द्वार है' आदि प्रेरणादायक सूक्तियों के माध्यम से वे अर्जुन को कर्म में प्रवृत्त करने का यत्न करते है। (गीता-अध्याय 2, श्लोक 32)। निष्क्रिय होकर बैठने से व्यक्ति कर्म-बंधन से मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। कर्म करना ही व्यक्ति का कर्म है और कर्म ही धर्म है। जो व्यक्ति अपना कर्तव्य पूरा करता है, फलेच्छा-रहित होकर कर्म करता है, अनासक्त है, उसी के पास ईश्वर आएगा, किसी अन्य के पास नहीं कर्म का यही मर्म गीताकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है:-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतु र्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।

(गीता 2-47)

अतः शुभ कर्म, जिनसे जन-कल्याण व उन्नति होती हो, सदैव ही विश्वास एवं उत्साहपूर्वक अवश्य करते रहना चाहिये। ज्ञानी बनकर एकांत में बैठने (निक्रियता) से जन-कल्याण कदापि संभव नहीं। नदी का जल चलते रहने के कारण सदैव पवित्र, सात्विक और शुभ्र रहता है, किन्तु तालाब का जल स्थिर अवस्था में रहकर न केवल गंदा हो जाता है, किन्तु सूख भी जाता है। ऐसी अवस्था उस तपस्वी की हो जाती है, जो एक़ांत स्थान में निवास करके अपनी वृत्तियां वश में करके दिव्यशक्ति को प्राप्त कर लेता है, किन्तु जगत्-कल्याण हेतु अपना स्थान छोड़कर भ्रमण करके जीवों को उपदेश द्वारा उन्नत नहीं करता। सच्चा तपस्वी वही है, जो पूर्ण बुद्धिमान् और ज्ञान-संपन्न होकर जागतिक उपकार के निमित्त अपने शरीर तक को बलिदान कर देता है।

एक व्यक्ति गुफा में जाकर बैठ जाता है। वहां उसका प्रत्येक सांसारिक वस्तु से संबंध विच्छेद हो जाता है और वह स्वयं को शामन्तिमति मानने लगता है। किन्तु यदि वह एक दिन गुफा को परित्याग कहीं भिक्षा मांगने जाये तो ज़रा-सा कोलाहल भी उसके लिये असहनीय होगा। इससे यही ध्वनित हुआ कि गुफा में रहकर उसका मन इतना दुर्बल हो गया है कि जरा-सी आवाज उसके लिये असहनीय है। मन की ऐसी दुर्बल स्थिति अच्छी नहीं। इसी कारण गीता में सर्वथा कर्म-परित्याग का निषेध किया गया है। प्राणी को अपने जीवन के लिए कर्म करना आवश्यक है।

गीता जब यह कहती है कि फलाशा मत रखो, तो साथ ही वह यह जताकर कहती है कि कर्म को उत्तमता और दक्षता से करना चाहिये। सकाम पुरुष के कर्म की अपेक्षा निष्काम पुरुष का कर्म अधिक अच्छा होना चाहिये। यह अपेक्षाकृत उचित ही है, क्योंकि सकाम पुरुष तो फलासक्त है, इसलिये फल-संबंधी स्वप्न-चिंतन उसका थोड़ा-बहुत समय और शक्ति अवश्य लेंगे। किन्तु फलेच्छा रहित पुरुष की सम्पूर्ण शक्ति और समय सदैव कर्म में ही लगे रहेंगे।

गीता जब मनुष्य की दृष्टि कर्म-फल से हटा लेती है, तो वह कर्म में उसकी तन्मयता सौ-गुना बढ़ा देती है। कर्म-निरपेक्ष व्यक्ति की कर्म-विषयक तन्मयता समाधि के दर्जे की होती है।

thearyasamaj.org

अतः उसका आनन्द औरों से सौ-गुना अधिक होता है। वस्तुतः निष्काम-कर्म स्वतः ही एक महान् फल है। अतः इस शरीररूपी वृक्ष में निष्काम स्वधर्माचरण रूप सुंदर फल लग चुकने पर अन्य किसी फल की अपेक्षा रखना मूर्खता है। बच्चा खेलने के आनन्दहेतु खेलता है। इससे उसे व्यायाम का फल स्वतः प्राप्त हो जाता है। किन्तु फल की ओर उसका ध्यान नहीं। उसका संपूर्ण आनन्द तो खेल में ही है।

निष्क्रियता से नहीं, निष्काम-कर्म से ही सिद्धि प्राप्त होती है। जनकादि राजर्षियों ने कर्म से ही सिद्धि प्राप्त की थी। उन्होंने सिद्धि-प्राप्ति के लिये भी कर्म का त्याग नहीं किया और सिद्धि अर्थात् पूर्णज्ञान-निष्ठा प्राप्त होने पर भी अनासक्त रूप से कार्य करते ही रहे (गीता 3-20)। वही व्यक्ति और जातियां उन्नत एवम् प्रफुल्लित होकर सुख प्राप्त करती हैं और दूसरों को सुख देती हैं, जो अपने क्षुद्र स्वार्थ को त्याग, सर्वजन हिताय कार्य करने में सदैव निमज्जित रहती हैं।

गुणावगुण की दृष्टि से विचारने पर भी अनासक्ति और निष्काम-कर्म का ही संबंध बैठता है। निष्क्रियता से तो मानव-जाति कभी भी लाभान्वित नहीं हो सकती। अनासक्ति (निष्कासम कर्म) स्वयं में विश्वात्मैक्य एवं विश्व-कल्याण की भावना को गुम्फित किए हुए है। इससे हमारे मन के मलरूप दुर्गुण और दुराचार विनष्ट होते हैं और हमे सद्गुण, सदाचार, शान्ति तथा सुख की प्राप्ति होती है। गीताकार का लक्ष्य यही था कि अर्जुन जैसे साधारण व्यक्तियों को भी आसक्ति को त्याग, निरंतर कर्म में प्रवृत्त किया जाए-

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।

(गीता 3, 18)

अतः इससे यही भाव निकलता है कि अनासक्ति का दूसरा नाम निष्काम-कर्म हैं।

-18, गोविन्द नगर, (मार्कीट एरिया), अम्बाला छावनी।

thearyasamaj.org

झूठा अहम्

–डॉ. सतीशराज पुष्करणा

आज पति-पत्नी एक दूसरे से रुष्ठ हैं। बात कोई विशेष नहीं रामानन्द, जी अपने साहित्यिक मित्रों के मध्य बैठे बातचीत में खोए थे और उनकी पत्नी, सुशीला देवी पर्दे की ओट से बार-बार संकेत से उन्हें बुला रही थी। रामानन्द देख रहे थे, किन्तु बातचीत एवं उसका विषय कुछ इस प्रकार चल रहा था कि वे उसको बीच में छोड़कर जाना, साहित्यिक गोष्ठी एवं मित्रों का अपमान एवं मर्यादा का उल्लंघन समझ रहे थे, जो उचित भी था। बस पत्नी ने इसे अपना अपमान एवं प्रतिष्ठा का प्रश्न समझ लिया।

मित्रों के जाते ही वह कमरे में गए और बोले, ''तुम शायद कुछ कह रही थी।''

सुशीला देवी इतने क्रोध में थी कि कोई उत्तर न दिया। हाव-भाव देखकर रामानन्द जी समझ गए कि आज कैकेयी कोप-भवन में है।

अपराधंबोध महसूस करते हुए उन्होंने पुनः कहा, ''देखो! तुम्हारी नाराजगी वाजिब हो सकती है, किन्तु मेरी स्थिति एवं विवशता को भी तो समझने की चेष्टा करो, पत्नी होने के नाते ये सब तुम महसूस नहीं करोगी.... तो कौन करेगा?''

सुशीला देवी ने पति की ओर ऐसे देखा कि यदि उसका वश चले तो शायद उन्हें सूली पर चढ़ा दे।

''अरे भाई! अब गुस्सा थूक भी दो... जो हुआ, सो हुआ।'' आपस में कड़वाहट न बढ़े, यह विचार करके उन्होंने समर्पण करते हुए कहा, ''अच्छा बाबा। अब जाने भी दो, भविष्य में ध्यान रखूँगा, तुम्हारी भावनाओं एवं अहम् को चोट न लगे। अब तो बोलो, कुछ तो बोलो। वह बात तो मुझे बताओ, जिसके लिए तुम इतनी नाराज हो गई''।

किन्तु सुशीला देवी न मानी। वह शायद थोड़ी खुशामद और चाहती थी और मन में सोच रही थी कि एक-दो बार मान-मुनव्वल और हो, तो थोड़ा नार्मिल हो। किन्तु रामानन्द आखिर पुरुष थे.... साहित्यकार थे। उनका अहम् भी जाग उठा और उन्होंने भी कसम खा ली कि जब तक सुशीला को, अपनी भूल का एहसास नहीं हो जाएगा, वह भी बात नहीं करेंगे।

अब स्थिति बड़ी विचित्र थी। घर में केवल दो प्राणी, पति और पत्नी बीच-बचाव की कोई गुंजाइश नहीं। पत्नी प्रतीक्षा में रही, जब उन्हें भूख लगेगी या चाय की तलब होगी, तो बोलेंगे ही। आज तो बाहर दुकान भी बन्द है। रविवार है न। पत्नी ये सब सोचकर अपने आप में संतुष्ट एवं प्रसन्न है।

रामानन्द जी को भूख बहुत जोर से लगी है। सोचते हैं एक तो गोष्ठी में इतना बोलना पड़ा कि थकान हो गई, भूख भी कसकर लगी है। वह उठे

thearyasamaj.org

और उन्होंने एक गिलास भरकर पानी पी लिया। मगर फिर भी मन में कई प्रकार की अजीब-सी बेचैनियां हैं, जिन्हें स्पष्ट तौर पर स्वयं वह भी नहीं समझ पा रहे हैं।

उधर पत्नी ने भोजन बनाना आरंभ कर दिया है। रसोई में हल्के-हल्के गैस के चूल्हा जलने का स्वर, कुछ बर्तनों की खटपटाहट सुनाई पड़ी। बर्तनों की खटपट से उनके साहित्यिक मन ने उन्हें समझाया, भाई! जहाँ दो बर्तन होते हैं, खटपट तो होती ही है, किन्तु अगले ही क्षण उनका पुरुष-मन फुफकार उठा, मैंने तो सद्प्रयास किया ही था, मगर उसी ने मेरी भावनाओं पर तुषारपात कर दिया।

रसोई से आती सब्जी बनने की सुगन्ध, फिर कभी रोटियों की सोंधी-2 खुशबू। मिला-जुलाकर स्थिति यह थी कि भूख बढ़ती ही जा रही थी, साहित्यिक मन कहता कि छोड़ो! जीवनसंगिनी है। आपस में क्या मान और क्या स्वाभिमान। किन्तु पुरुष-मन है कि समझौते के निकट ही नहीं जाने देता।

सुशीला देवी पति के मनोभावों को समझ रही है और इस प्रतीक्षा में है कि वह बस एक बार बोल दें, तो सारी बात समाप्त।

अब खाना तैयार है। वह परस रही है। पति का चेहरा इस समय उसे बहुत बेचारा-सा लग रहा है। ऐसा चेहरा देखकर उसके मन में ऐसा प्यार उमड़ रहा है, जो एक बेटे के लिए मां के मन में उमड़ता है। पत्नी भी तो एक तरह से मां ही होती है। बस एक ही तो अन्तर है... स्त्री किसी भी भूमिका में हो, मूलत: वह मां ही तो होती है।

रामानन्द परोसे जा रहे खाने को इस प्रकार देख रहे हैं कि मन बार-2 ललचा रहा है, उन्हें लगता है कि उनका पुरुष-मन पराजित हो जाएगा। वह अपने को नियंत्रित किए हुए हैं, किन्तु उन्हें बार-बार लगता है कि मन उनके नियंत्रण से बाहर होता जा रहा है और अब वह समर्पण कर ही देगा।

पत्नी ने टेबुल पर खाना लगाते हुए ममतामयी दृष्टि से पति की ओर देखा और कहा, आइए! खाना खा लीजिए।

रामानन्द बाबू थोड़ा इतराते हुए बोले, ''नहीं! मुझे भूख नहीं है।''

''वह तो मैं समझ रही हूँ। किन्तु फिर भी मेरी खुशी के लिए खा लीजिए।''

रामानन्द बाबू भीतर तक भींग गए और झटपट खाने की टेबुल की ओर बढ़ गए।

– 135, सिविल लाइन्स, नवाब का अहाता, बरेली-243001 (उ. प्र.)

thearyasamaj.org

बाल-कथा-साहित्य की प्रगति

-सुश्री स्नेह लता

आज के बालक कल के नागरिक हैं। बच्चे ही देश के भावी कर्णधार होते हैं। किसी देश का भविष्य उज्ज्वल बनाने के लिए वहाँ के बच्चों के सम्यक् विकास की ओर ध्यान देना आवश्यक है। नन्हा शिशु जैसे ही इस संसार में आता है वह अपनी आँखों से सब कुछ देखना चाहता है। उसके विस्फारित नेत्र उसकी इस सहज जिज्ञासा को व्यक्त करते हैं। जैसे-जैसे वह बड़ा होने लगता है अपने विचारों को अभिव्यक्ति देने लगता है और उसके बाद बालक जैसा देखेगा वैसा ही सोचेगा और वैसा ही बनेगा। बचपन में सुनी गईं, पढ़ी गईं बातें मस्तिष्क पर सर्वाधिक असर करती हैं। बच्चों में एक वैज्ञानिक की जिज्ञासा रहती है। वे उन्मुक्त वातावरण में जीना चाहते हैं। खेलते-कूदते, नाचते-गाते हैं। उन्हें वही कार्य करना अच्छा लगता है जिसमें उन्हें प्रतीति हो कि वह अतिरिक्त बोझ की तरह लादा नहीं गया। बाल-साहित्य के अंतर्गत मनोरंजक कहानियाँ, गीत, चुटकुले, चित्र-कथाएँ, पहेलियाँ आते हैं जो बालकों को मनोरंजक लगते हैं। बच्चे स्वभाव से ही जिज्ञासु होते हैं, कल्पनाशील होते हैं। उन्होंने जो संसार अपने आस-पास देखा होता है वह काफी सीमित होता है, वह विस्तृत दुनियां को जानना चाहते हैं। बच्चे जब कहानी पढ़ते या सुनते हैं तब घटनाएं उनके मन में कल्पना का रंग लेकर एक स्वप्निल चलचित्र का निर्माण करने लगती हैं। कहानी सुनकर कभी वे परीलोक में विचरण करने लगते हैं, कभी जंगल में घूम कर शेर, भालू, हिरण, चीते से साक्षात्कार कर सकते हैं। कभी रॉकेट में बैठकर चाँद पर पहुँच सकते हैं। कभी नई खोज कर प्रतिभावान् बन सकते हैं। कभी युद्ध भूमि में अभिमन्यु की तरह वीरतापूर्ण प्रदर्शन करके शत्रु के छक्के छुड़ा सकते हैं।

लिखने का तात्पर्य यह है कि कहानी के कथानक के अनुसार वे अपनी कल्पनाशीलता के रंग भरकर भावविभोर हो जाते हैं और कहानी के अनुरूप अपने स्वर्णिम भविष्य के स्वप्न सजाने लगते हैं। स्वयं मानवमन का सत्य भी यही है कि उसे वही बातें अच्छी लगती हैं जिसमें उसे अपनी इच्छानुसार व्यवहार करने की स्वतंत्रता हो, अपनी कल्पना की उड़ान भरने की उन्मुक्तता हो। कहानी में सदैव एक उत्सुकता बनी रहती है कि फिर क्या होगा? यही ललक बच्चों को कहानी के लिए प्रेरित करती है। स्वाभाविक जिज्ञासा, कल्पनाशीलता की उड़ान के कारण ही बच्चों को कहानी अच्छी लगती है।

thearyasamaj.org

सुश्री स्नेह लता

प्राचीनकाल से ही भारत में कहानी कहने-सुनने की प्रथा रही है। इसका उल्लेख हम अपने प्राचीन ग्रन्थों में भी पाते हैं। महाभारत के आदिपर्व का चैतरथ पर्व अध्याय 164 के एक प्रसंग में एक ब्राह्मण कुन्ती को कहानियाँ सुनाता है. उस समय उनके पाँचों पुत्र भी बैठकर कहानियाँ सुनते हैं।

प्राचीनकाल में जब लिखने की कला विकसित नहीं हुई थी तब एक वृद्ध व्यक्ति अपने ज्ञान या अनुभव को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक कहानियों के माध्यम से ही पहुँचाया करता था। कहानियों का उद्देश्य होता था कि किसी भी जीवनोपयोगी बात को या नीतिगत विशेषता को सरल ढंग से समझाना। पञ्चतन्त्र इत्यादि कहानियाँ इसी कोटि में आती हैं। पञ्चतन्त्र की कहानियों की लोकप्रियता का सहज अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि पंचतंत्र की कहानियों का अनुवाद भारत की ही नहीं वरन् विश्व की लगभग सभी भाषाओं में हो चुका है।

हितोपदेश के विषय में तो स्पष्ट ही है कि उसमें पशु-पक्षियों के द्वारा ही वक्ता राजकिशोरों को 6 महीने में ही राजनीति का पण्डित बना देता है। वस्तुत: देखा गया है कि जब कोई किसी वस्तु को संक्षेप या हृदयग्राह्य रूप से सुनाना चाहता है या कोई विषय गूढ़ होता है तो लेखक या अन्य कोई उसको कहानी के माध्यम से समझाना उचित समझता है। वाल्मीकि रामायण, महाभारत इत्यादि जैसे ग्रन्थों में भी बीच-बीच में समझाने के लिए कहानियों का सहारा लिया हुआ देखा जाता है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व ही बाल-कहानी-साहित्य अपने वर्तमान स्वरूप में परिलक्षित होने लगा था। इस युग को प्रमुखरूप से भारतेन्दुयुग कहा गया। गद्यसाहित्य की विधा का लगभग पूर्ण विकास हो चुका था। साहित्य की रचना खड़ी बोली में की जाने लगी थी। इंशाअल्ला खाँ तथा सदासुखलाल की कहानियाँ इसी काल में प्रकाशित हुई थीं। इस काल में काफी रोचक कहानियाँ लिखी गईं।

कहानीकारों ने ईसप, अरब की कहानियाँ, रूसी, चेक, अमरीकी कहानियों को भी हिन्दी में प्रस्तुत किया। इस युग की कहानियाँ लोकजीवन पर आधारित हैं। इस युग के प्रसिद्ध कहानीकारों ने लोक-कथाओं के आधार पर अनेक कहानियाँ लिखी हैं। रहस्य, रोमांच, भूतप्रेत, देवी-देवताओं तथा परी-कथाओं से संबंधित कहानियों की इस युग में हिन्दी बालकथा-साहित्य में बहुलता है। प्रेमचन्द की बालकहानियाँ बालमनोविज्ञान पर आधारित बाल-कहानियों का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। ईदगाह जैसी सार्वकालिक कहानी बाल-साहित्य के लिए अनुपम प्रस्तुतीकरण है।

जंगल की कहानियाँ, कुत्ते की कहानी, मुन्नू की स्वतंत्रता (हरिशंकर परसाई कृत) बच्चों में

thearyasamaj.org

बहुत लोकप्रिय हुईं। यदि हम स्वतंत्रता-प्राप्ति के छह दशकों में हुई बाल-कहानी विधा पर विहंगम दृष्टि डालें तो हम यह गर्व से कह सकते हैं कि इन दशकों में बाल-कहानी-क्षेत्र में उत्साहवर्धक तथा भविष्य की स्वर्णिम संभावनाओं से युक्त प्रयास हुए हैं। इन दशकों में कहानियाँ काफी विकसित रूप में सामने आई हैं। इनमें जादू-टोने या भूत-प्रेत से संबंधित कहानियों की अपेक्षा युग के संदर्भों में लिखी गई कहानियों को प्राथमिकता दी गई है। आज यह भी प्रयास किए जा रहे हैं कि पुराने संदर्भों को नए परिवेश में ढालकर इस ढंग से प्रस्तुत किया जाए कि वह आधुनिक युग में भी अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकें।

आज देश के कोने-कोने से नई-नई बाल-पत्रिकाएं निकल रही हैं जिनमें कहानियों को प्रमुखता से स्थान दिया जा रहा है। जो प्रमुख रूप से बाल-मनोविज्ञान पर आधारित हैं।

आजकल बाल-कहानियों को रोचक बनाने के लिए निरन्तर प्रयास किए जा रहे हैं। आधुनिक काल की कहानी में यह चेष्टा की जाती है कि कथ्य तथ्यपरक कसौटी पर भी खरे उतरें। साहसिक एवं नवीन अन्वेषणों से संबंधित घटनाओं को भी कहानी के रूप में ढालकर बच्चों के संमुख प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है। यथार्थ एवं कल्पनाशीलता दोनों अपनी-अपनी जगह रहें, ऐसी भी कहानियाँ रचने का प्रयास किया जा रहा है।

आज के कहानीकार का यह प्रयास रहता है कि उसमें जो उपदेश हो वह प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष रूप से बच्चों तक पहुँचाया जाए। आज बच्चों में भी कहानी पढ़ने के प्रति अच्छी रुचि देखी जा रही है। अतः यह समय है जब कहानी-लेखक अपने अनुभवों से बच्चों को एक सच्चा, सरल और सांस्कृतिक मार्ग दिखा सकते हैं।

– 1/309, विकास नगर, लखनऊ–226024 (उ. प्र.)

thearyasamaj.org

मानव-सेवा ही प्रभु-भक्ति

– कु. गुरमीत कौर

मानव-जीवन अनमोल एवं दुर्लभ हीरा है। अनन्तकाल से चले आ रहे जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाने का यही एकमात्र अवसर है। इस जीवन को प्राप्त करके भी यदि हम सांसारिक मायाजाल में फँसे रहे और परमात्मा की भक्ति न की, तो हमारा जीवन निरर्थक हो जाएगा। सन्त रविदास के शब्दों में –

दुर्लभ जनमु पुन फल पाइओ,
बिरथा जात अविवेके ।
राजे इन्द्र समसरि गृह आसन,
बिनु हरि भक्ति कहहु मिट्ट लेखै।

मानव-जीवन के चरम लक्ष्य परमार्थ की प्राप्ति इस धरती पर ही सम्भव है। यह धरा ही स्वर्ग-सी सुन्दर, सुखद एवं सुरम्य है और इसके कण-कण में ही परमात्मा व्याप्त हैं। सच्चा भक्त एवं साधक इस भौतिक एवं नश्वर संसार में भगवद्भक्ति द्वारा परमतत्त्व की प्राप्ति करता है। वह परमपिता परमात्मा की सन्तान सभी प्राणियों से प्रेम, ममता, दया और सौहार्द्रमय व्यवहार करके प्रभुभक्ति का अलौकिक एवं दिव्य प्रमाण प्रस्तुत करता है। क्योंकि मानव-सेवा ही प्रभुसेवा एवं भगवद्भक्ति है। परमात्मा भी मानव को शिक्षा देने के लिए तथा प्रेम-भक्ति का मार्ग दिखाने के लिए समय-समय पर संसार में विभिन्न रूपों में अवतरित होते हैं तथा उसे संसार-सागर पार कराकर अपने स्वरूप में मिला लेते हैं "आदि अन्त हम ही रहै सब में मेरो बास"।

परन्तु मानव अज्ञान और अहंकारवश परमात्मा के वास्तविक रूप को पहचान नहीं सकता। वह सर्वव्यापी प्रभु के दर्शन नहीं कर पाता। कबीर दास जी कहते हैं –

ज्यों तिल माहिं तेल है, ज्यूं चकमक मे आगि।
तेरा साई तुझ में जाग सके तो जाग।।

मनुष्य बाहरी आडम्बरों में लीन होकर उचित मार्ग से भटक जाता है और उसके सांसारिक माया-मोह के बन्धन और सुदृढ़ हो जाते हैं, जब तक मानवमन से अज्ञान का अंधकार नष्ट नहीं होता, तब तक भगवान् की भक्ति असम्भव है। यही कारण है कि भारत के ऋषियों ने सर्वप्रथम आध्यात्मिक साधना द्वारा अपने भीतर ही परमात्मा की सत्ता का अनुभव किया और पाया कि सम्पूर्ण सृष्टि में प्रकाशित होने वाली जीवन-ज्योति एक ही है। देह, शरीर और आकृति भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु सब में एक ही चेतना है। सभी में एक ही चेतना के आधार पर भारतीय संस्कृति में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। हम सब एक ही परम-पिता की सन्तान हैं। अत: सब एक हैं।

यही एकता सब प्राणियों को एकसूत्र में बाँधती है, परमात्मा के भक्त इसी एकता की भावना के आधार पर ही प्रभु के अलौकिक रूप

thearyasamaj.org

कु. गुरमीत कौर

के दर्शन सहज रूप में कर लेते हैं। भक्त नामदेव ने कुत्ते के रूप में प्रभु के दर्शन करके संसार के सम्मुख आदर्श प्रस्तुत किया। रमण ऋषि ने कोढ़ी में भी प्रभु-दर्शन करके उसकी सेवा की। भाई कन्हैया जी ने श्री गुरु गोबिन्दसिंह से पराजित शत्रु-सेना के घायल सैनिकों को भी अपने सैनिकों के साथ पानी पिलाया। क्योंकि वह तो भक्तिभाव में लीन उन सब में श्री गुरु गोबिन्दसिंह जी का रूप देख रहे थे। हमारे सभी धर्म, सम्प्रदाय के महान् पुरुषों ने मानवता की सेवा और कल्याण को भगवद्भक्ति का नाम दिया। दीन, दरिद्र, अपाहिज और लाचार तथा बेबस रुग्ण लोगों की सच्ची सेवा ही प्रभु भक्ति है। यही सच्चा धर्म है। सभी धर्म सम्प्रदाय मानव-सेवा को ही प्रभुभक्ति कहते हैं। यही कारण है कि सभी सम्प्रदायों ने जीवन में कर्तव्यपूर्ति को ही सच्चा धर्म माना है। सच्चा धर्म तो मानव के प्रति प्रेम, ममता, स्नेह, दया, सहानुभूति तथा सेवा का पाठ पढ़ाता है। न कि घृणा और नफरत का बीज बोता है।

परन्तु आज यहाँ कुछ विपरीतता देखी जा रही है, तथा वर्तमान में कुछ और ही दिखाई दे रहा है। आज धरा कुछ व्याकुल है। आज इधर-उधर देखते हुए आज दुःख होता है कि जहाँ महात्मा बुद्ध, महात्मा गाँधी और श्री गुरु नानक देव जी जैसे महान् पुरुषों ने अपने वचनामृत से सम्पूर्ण धरा को पल्लवित और पुष्पित किया था। वहां आज हम उनके पावन उपदेश भूल चुके हैं, जिसके कारण जहाँ प्रेम, दया तथा सेवाभाव है, वहाँ ज्ञान, कर्म, व्रत उपासना योग-साधना एक किनारे पर रह जाते हैं। मानव-प्रेम की झीनी सी जंजीर प्रेमस्वरूप सच्चिदानन्द को भी बाँध लेती है।

- सेवानिवृत्त प्र. स्नातक शिक्षिका,
मकान न. 620, गली न. 1 छोटी लाइन, सन्तपुरा, यमुनानगर (हरियाणा)।

thearyasamaj.org

श्रीमद्भागवतपुराण में आश्रम-व्यवस्था

– डॉ. मनीष कौशल

समाज को व्यवस्थित करने के लिए हमारे प्राचीन ऋषियों ने आश्रम-चतुष्टय के सिद्धान्त की कल्पना की। उन्होंने मनुष्य-जीवन की एकात्मकता में उसकी आयु के सौन्दर्य को निखारने के लिए विविधता का रंग भर दिया। यह विविधता मनुष्य की आयु को सौ वर्ष मानकर, उसे चार भागों में विभाजित कर लायी गयी है। प्रत्येक आश्रम के लिए पच्चीस वर्ष का समय निर्धारित किया गया है। भागवतपुराण में चार आश्रमों की सत्ता को स्वीकार किया गया है।[1]

प्रारम्भ के पच्चीस वर्ष विद्याग्रहण के लिए आवश्यक हैं, अतः उन्हें ब्रह्मचर्य आश्रम में निबद्ध किया गया है। तत्पश्चात् लौकिक सुख तथा सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्यों को पूर्ण करने के लिए गृहस्थ आश्रम को द्वितीय आश्रम माना गया है। भोगों की क्षणिकता और विरक्ति मनुष्य को वानप्रस्थी बनाती है और तदुपरान्त निरन्तर परब्रह्म का चिन्तन करने पर व्यक्ति पूर्ण वैराग्य लेकर संन्यासी हो जाता है। यह व्यवस्था मनुष्य के ऐहलौकिक तथा पारलौकिक उन्नति में सहायक होती है। भागवतपुराण में चारों आश्रमों के धर्म बताते हुए कहा गया है कि शान्ति और अहिंसा संन्यासी का प्रमुख धर्म है। तप और ईश्वर-चिन्तन वानप्रस्थी का, प्राणियों की रक्षा और यज्ञ गृहस्थ का और ब्रह्मचारी का प्रमुख धर्म है अपने गुरु की सेवा करना।[2]

ब्रह्मचर्य आश्रम –

ब्रह्मचर्य आश्रम मानव के सफल जीवन की आधारशिला है। इस आश्रम में मनुष्य अपने चरित्र, स्वास्थ्य तथा विद्या का विकास कर अपने भावी जीवन के भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास का शुभारम्भ करता है। शास्त्र की आज्ञा के अनुसार मेखला, मृगचर्म, वस्त्र, जटा,दण्ड, कमण्डलु, यज्ञोपवीत तथा हाथ में कुशा धारण करना- ये ब्रह्मचारी के लक्षण माने गये हैं।[3] ब्रह्मचारी का मुख्य कर्त्तव्य है कि वह आचार्य को भगवान् का स्वरूप समझे और कभी उनका तिरस्कार न करे। उन्हें साधारण मनुष्य समझकर दोष-दृष्टि न करे, क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है।[4]

ब्रह्मचारी सायंकाल और प्रातःकाल गुरु, अग्नि, सूर्य और श्रेष्ठ देवताओं की उपासना करे और मौन होकर एकाग्रता से गायत्रीजप करता हुआ दोनों समय की सन्ध्या करे।[5] इसके अतिरिक्त ब्रह्मचारी इन्द्रियों को वश में रखे तथा

1. भागवतपुराण, 11.17.14.
2. वही, 11.18.42.
3. वही, 7.12.4.
4. वही, 11.17.27.
5. वही, 7.12.2.

thearyasamaj.org

अञ्जन, तेल, उबटन, स्त्रियों के चित्र, मांस, मद्य, फूलों के हार, गन्ध, संगीत आदि इन सबका त्याग कर दे।[6] इस प्रकार आचरण कर ब्रह्मचारी को जीवन की नींव को सफलतापूर्वक स्थिर एवं सुदृढ़ कर भावी जीवन के सौन्दर्य की नींव को आनन्दमय बनाना चाहिए।

गृहस्थ आश्रम –

वेद और स्मृतियों के अनुसार अग्निहोत्र आदि अनुष्ठान करने तथा ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं संन्यासी का अन्नादि द्वारा पालन करने के कारण गृहस्थ आश्रम को श्रेष्ठ माना गया है।[7] गृहस्थाश्रम ही धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग की प्राप्ति का साधन है।[8] यह आश्रम जीवन का वह भाग है, जिस पर उसकी, उसके परिवार की, समाज की और राष्ट्र की उन्नति निर्भर करती है।

गृहस्थ के विशेष धर्म–अतिथि की सेवा करना, यज्ञ करना, दान, ईश्वर–आराधना करना आदि हैं। गृहस्थ को चाहिए कि वह आवश्यकता के अनुसार ही घर और शरीर की सेवा करें। भीतर से विरक्त रहे और बाहर से रागी के समान लोगों में साधारण मनुष्य जैसा व्यवहार करे।[9] गृहस्थ भी दो प्रकार का होता है, एक साधक गृहस्थ, जो प्रत्येक क्षण अपने कुटुम्ब के पोषण में लगा रहता है और दूसरा है उदासीन जो तीनों ऋणों से मुक्त होकर पत्नी का भी त्याग करके एकाकी विचरण करता है।[10]

गृहस्थ को अनासक्त भाव से त्रिवर्ग–साधन में प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि जो पुरुष गृहस्थाश्रम में रहता हुआ पुत्र, स्त्री और धन को ही परम पुरुषार्थ मानता है, वह अज्ञानवश संसार में ही भटकता रहने के कारण परम–कल्याण की प्राप्ति में सफल नहीं हो पाता।[11]

वानप्रस्थ आश्रम –

भारतीय धर्म–शास्त्रों में बताया गया है कि जीवन के कुछ काल को सुखमय बिताकर तथा धार्मिक एवं सामाजिक दायित्वों को पूर्ण कर वन में प्रस्थान करे। जब गृहस्थी देख ले कि अपने शरीर का चमड़ा ढीला हो गया है और केश सफेद हो गये हैं और पुत्र के भी पुत्र हो गया है, तब वन का आश्रय लेना चाहिये।[12]

वानप्रस्थी को जोती हुई भूमि में उत्पन्न होने वाला अन्न, अन्य स्थान पर असमय पैदा हुआ और पक्का हुआ अन्न, आग से पकाया अन्न आदि को नहीं खाना चाहिए।[13] वह सिर पर जटा धारण करें तथा केश, रोम, नख एवं दाढ़ी –मूँछ न कटवाये तथा मैल को शरीर से अलग न करे। कमण्डलु, मृगचर्म, दण्ड, वल्कल–वस्त्र और अग्निहोत्र की सामग्रियों को ही अपने पास

6. भागवतपुराण, 7.12.12.
7. मनुस्मृति, 6.89.
8. भागवतपुराण, 10.90:28.
9. भागवतपुराण, 7.14.5.
10. कूर्मपुराण, 2.79.
11. भागवतपुराण, 4.25.6.
12. मनुस्मृति, 6.2.
13. भागवतपुराण, 7.12.18.

thearyasamaj.org

रखे।[14] वानप्रस्थी केवल अग्निहोत्र की अग्नि की रक्षा के लिए ही पर्णकुटी अथवा पहाड़ की गुफा का आश्रय ले। स्वयं शीत, वायु, अग्नि, वर्षा आदि को सहन करे।[15] इस प्रकार इन्द्रिय-निग्रही, अक्रोधी तथा ऐहलौकिक माया से दूर होकर ही वानप्रस्थी अपने जीवन के मुख्य लक्ष्य की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।

संन्यास आश्रम –

संन्यास आश्रम मनुष्य-जीवन का अन्तिम आश्रम है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ आश्रम में जो राग-द्वेषादि की उत्पत्ति हो जाती है, उनका शमन संन्यास ग्रहण करने पर हो जाता है। यह एक आध्यात्मिक प्रवृत्ति है। संन्यासी का पहला कर्त्तव्य यह है कि जब वह वानप्रस्थी से संन्यासी होना चाहे, तब वह पहले वेदविधि के अनुसार आठों प्रकार के श्राद्ध और प्राजापत्य यज्ञ से भगवान् का यजन करे। इसके बाद अपना सर्वस्व ऋत्विज् को दे दे। यज्ञाग्नियों को अपने प्राणों में लीन कर ले और फिर स्थान, वस्तु और व्यक्तियों की अपेक्षा न रखकर स्वच्छन्द विचरण करे।[16] वह जातिच्युत और गोघाती पतितों को छोड़कर केवल सात घरों से ही भिक्षा ग्रहण करे और जो मिले उसी से सन्तोष करे।[17] वह समस्त प्राणियों का हितैषी हो, शान्त रहे, भगवत्परायण रहे और किसी का आश्रय न लेकर अपने आप में रहे तथा अकेला ही विचरे।[18] इस प्रकार आत्मा के ज्ञान-रूपी गुणों से युक्त होकर काम-क्रोध का पूर्ण परित्याग कर देने वाला संन्यासी जीवन के मुख्य लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता है।

अन्ततः लिखा जा सकता है कि आश्रम-व्यवस्था का उद्देश्य सम्पूर्ण सामाजिक संरचना को गतिशील रखना था। आश्रम-व्यवस्था ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सुखों के साथ-2 जीवन के परम कल्याण 'मोक्ष' की प्राप्ति का साधन मानी गयी है।

– सहायक प्रोफेसर,
श्रीमती उर्मिला देवी आयुर्वैदिक महाविद्यालय, खड़का, होशियारपुर

14. भागवतपुराण, 7.12.21.
15. भागवतपुराण, 7.12.20.
16. भागवतपुराण, 11.18.13.
17. भागवतपुराण, 11.18.18.
18. भागवतपुराण, 7.13.3.

thearyasamaj.org

स्वस्थ जीवन

–श्रीकृष्ण गोयल

स्वस्थ जीवन से अभिप्राय है कि हमारा जीवन चिन्ता, मानसिक तनाव, दु:ख, रोगों से रहित हो, शरीर देदीप्यमान हो तथा युवाशक्ति से परिपूरित हो। हमारा अपनी निम्न इच्छाओं, भावनाओं, विचारों पर नियंत्रण हो तथा जीवन-दायनी प्राणशक्ति को संचालन करने की कला हमें आती हो। हमारा चिन्तन, कर्म तथा व्यवहार अहंकार तथा स्वार्थ से रहित हो, हम परमात्मा के लिये कुशलतापूर्वक कर्म करते हुये जीवन जियें। हमारा लक्ष्य है कि प्रत्येक व्यक्ति दिव्य प्रेम का जीवित विग्रह हो, सर्वत्र प्रेम की गंगा प्रवाहित हो।

ऐसा होना पूरी तरह संभव है। वैदिककाल में भारतवासी इसी प्रकार का जीवन जीते थे। अब समय आ गया है कि हम दिव्यता को पुनर्जीवित करें, अन्यथा जीवन भौतिक प्रगति की सुविधाओं के होते हुए भी सम्पूर्णत: अभिशाप बन कर रह जायेगा। जीवन में दिव्यता लाने के लिये हमें अध्यात्मवाद से परिचित होना आवश्यक है।

परमात्मा अनन्त है, समस्त जगत् उसी से उत्पन्न होता है, उसी में जीवन लीला करता है तथा उसी में विलीन होकर पुन:-पुन: उत्पन्न होता है। मनुष्य परमात्मा का अंश है, उस में परमात्मा की परम शान्ति, आनन्द, असीम शक्ति, गुण, ज्ञान, प्रेम, एकता, सौन्दर्य, माधुर्य आदि गुप्त रूप में छिपे पड़े हैं। परमात्मा से अपने-आपको युक्त करके इन दिव्य गुणों तथा शक्तियों को अपने भीतर धारण करके दिव्यजीवन जीकर मनुष्य सम्पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त कर सकता है। मनुष्य इतनी क्षमता प्राप्त कर सकता है कि वह सदा शान्त, आनन्दित रह कर असीम दिव्यशक्ति से परिपूरित होकर अपना प्रत्येक कर्म कुशलतापूर्वक करता हुआ रोगों से मुक्त होकर प्रेमयुक्त सुखद-सम्बन्ध स्थापित करता हुआ अपना जीवन जी सकता है। परमात्मा से युक्त होने पर अहंकार तथा स्वार्थ विदा हो जाते हैं।

मनुष्य का काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि पर नियन्त्रण हो जाता है तथा वह प्रेम का जीवित विग्रह बन जाता है। ऐसा जीवन दिव्यजीवन कहलाता है। जीवन में प्रेम के फूल विकसित होते हैं, जिन की सुगन्ध से मानवता का कल्याण होता है तथा अन्य व्यक्तियों को भी दिव्यजीवन जीने की प्रेरणा मिलती है। ऐसा मनुष्य सदा रोगों से मुक्त होकर युवा रहता है, उसे बुढ़ापा आता ही नहीं तथा उस में इच्छानुसार आयु दीर्घ करने की योग्यता आ जाती है। इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु कुछ अनुभूत ध्यान की विधियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं-

1. आँखें धीरे से मून्द लें, परमात्मा से प्रार्थना करें, कि आपका जीवन दिव्य हो, कुछ समय के उपरान्त परमात्मा से प्रार्थना करें कि

thearyasamaj.org

आपको स्थिर शान्ति प्रदान करें। आराम से प्रतीक्षा करो, दस मिनट में आप का सारा शरीर सिर से पांव तक शान्ति की स्थिर प्रतिमा बन जायेगा, यदि मन में विचार उठें तो उन को आदेश दें कि वे थम जायें, ऐसा करने से विचार रुक जायेंगे। कुछ दिनों के अभ्यास से आप का मन पूरी तरह शान्त हो जायेगा। व्यावहारिक काल में जब मन अशान्त हो तो यही अभ्यास करें। इस प्रकार आप के भीतर गहन तथा स्थिर शान्ति स्थित हो जायेगी, आप बहुत हल्का-फुल्का महसूस करेंगे,जब भी समय मिले, शान्ति का अभ्यास करें। मन की परम शान्ति को चित्तवृत्ति निरोध या समता कहते हैं।

2. जब मन शान्त हो जाये तो परमात्मा से दिव्य-शक्ति के लिये प्रार्थना करें, आप के शरीर में दस मिनट में असीम ऊर्जा आ जायेगी। आप कभी काम करते थकेंगे नहीं तथा शक्ति से परिपूरित होंगे।

3. शान्ति तथा शक्ति के अभ्यास के उपरान्त प्रकाश का ध्यान करें। परमात्मा से प्रार्थना करें कि आपको दिव्य प्रकाश प्रदान करें। आप को विभिन्न प्रकार के प्रकाशों का अनुभव होगा। प्रकाश के द्वारा आप के सभी प्रकार के विचारों की शुद्धि की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जायेगी। आपके शरीर में दिव्य तेज की चमक आ जायेगी।

4. शान्ति, शक्ति, प्रकाश के ध्यान के उपरान्त बिन्दु का ध्यान करें। पिन की नोक के साईज के बिन्दु की अपने माथे के मध्य में कल्पना करें। कुछ दिनों के अभ्यास से बिन्दु की स्थिति दृढ़ हो जायेगी। उस के उपरान्त बिन्दु को सूक्ष्म अति-सूक्ष्म करते जायें। असीम दिव्य ऊर्जा उत्पन्न होगी तथा आध्यात्मिक अनुभव होंगे। इस प्रयोग से आप के शरीर की कोशिकायें पुनर्जीवित हो जायेंगी, आप कभी बीमार एवं बूढ़े नहीं होंगे तथा आप में इच्छानुसार जीवन को दीर्घ करने की क्षमता आ जायेगी। किसी भी स्थिति में मृत्यु की इच्छा नहीं करनी है तथा उस से डरना नहीं है।

5. सदा शान्त रहें, कम से कम सार्थक वचन बोलें, अधिक सुनने की कला अपनायें, मन की बोलने की प्रवृत्ति पर संयम रखें, दोष-दृष्टि को त्यागें, समस्याओं का उत्साहपूर्वक मुकाबला करें, सत्य का पालन करें। सन्तुलित भोजन सीमित मात्रा में लें।

उपरोक्त ध्यान की विधियों के प्रयोग से तथा नियमों के पालन से आप स्वस्थ जीवन जीयें तथा अन्य व्यक्तियों के लिये प्रेरणा-स्रोत बने।

- 307-बी, पाकेट-2, मयूर विहार, फेस-1, दिल्ली-110 091

thearyasamaj.org

शिक्षा और दान : समाज की आवश्यकता

–डॉ. रामप्रकाश शर्मा

विश्व इतिहास में सदियों तक भारत अपने ज्ञान एवं मूल्यों के कारण विश्वगुरु के रूप में सम्पूजित एवं प्रतिष्ठित रहा है। हमारे इस महान् देश में नीति, ज्ञान, विज्ञान, अध्यात्म, शिक्षा, चिकित्सा, दान, तप, दया, उदारता, सहिष्णुता, परोपकार, समाजधर्म, गुरु-शिष्य परम्परा आदि अनेक ऐसे महनीय तत्त्व हैं जो प्रायः अन्यत्र दिखलाई नहीं पड़ते। महर्षि वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य, महात्मा विदुर, मनु, पाणिनि, चाणक्य, कबीर, भर्तृहरि, नानक, टैगोर जैसे अनेक आचार्यों ने जो ज्ञानगंगा प्रवाहित की वह अद्यावधि सम्पूर्ण राष्ट्र को सम्पोषित एवं पुनीत बनाये हुए है। **'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'** और **'वसुधैवः कुटुम्बकम्'** जैसे प्रेरणास्पद वचनों से सारे संसार का पथप्रदर्शन करने वाली हमारी यह पवित्र भारतभूमि ही है। अत्यन्त समृद्धशाली गौरवमयी परम्परा होने के पश्चात् भी सम्प्रति हमारा राष्ट्र अपने मूलादर्शों से विमोहित होता जा रहा है। देश के जिम्मेदार नागरिकों, शिक्षकों, समाजसेवकों, राजनेताओं, दानवीरों एवं विद्यार्थियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने कर्त्तव्यों का सम्यक् निर्वहन कर समाज तथा देश की उन्नति एवं प्रगति में सकारात्मक योगदान देवें।

समाज तथा देश को आगे बढ़ाने में सबसे अहम है- शिक्षा। प्राचीन भारत के विभिन्न विद्वानों और दार्शनिकों ने शिक्षा को अपने-अपने तरीके से परिभाषित किया है। शिक्षा के लिए प्रायः विद्या, ज्ञान, प्रबोध, एज्यूकेशन, पैडागोगी आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता रहा है। वेद, पुराण, उपनिषद्, दर्शन और साहित्य सभी में शिक्षा की विस्तृत व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। आधुनिक भारत में भी अनेक विद्वानों, समाज सुधारकों एवं शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा की आवश्यकता पर बल देते हुए इसके स्वरूपों का विश्लेषण किया है। नीतिविशारद शास्त्रकारों ने **'किम्-किम् न साध्यति कल्पलतेव विद्या'**, **'विद्याधनम-धनानाम्'**, **विद्या गुरुणां गुरु'**, **'विद्याधन सर्व-धनंप्रधानम्'**, **विद्वान् सर्वत्र पूज्यते'** कहते हुए विद्या की महिमा का वर्णन किया है। इन्होंने विद्या के अभाव में मनुष्य को पशु समान कहा है – **'विद्याविहीन नरः पशुःसमानः'**। शंकराचार्य ने **'स्वयं को जानना शिक्षा है'**, ऐसा कहकर आत्मबोध का कारक शिक्षा को माना है। कौटिल्य ने राष्ट्रप्रेम के लिए शिक्षा की भूमिका निश्चित की है। उनके अनुसार **'शिक्षा का अर्थ है देश के लिए प्रशिक्षण और राष्ट्र के प्रति प्यार'**। चाणक्य ने शिक्षाविहीन बालक के अभिभावक को शत्रु की संज्ञा दी है- **'माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः'** स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में- **'हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो हमारा आचरण बनाये, हमारे मानसिक बल को बढ़ाए, बौद्धिकता का विकास करे और जिसके द्वारा मनुष्य आत्मनिर्भर हो जाए'**। इस प्रकार विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने समाज के सर्वांगीण विकास में शिक्षा को अत्यन्त महनीय तत्त्व माना है। अंग्रेजीभाषा में शिक्षा के अर्थ का निचोड़ बताते हुए कहा गया है,

thearyasamaj.org

डॉ. रामप्रकाश शर्मा

"Education is the Modification of behaviour" शिक्षा व्यवहार में परिवर्तन करती है। सारांशत: शिक्षा दानव को मानव बनाती है।

जिस तरह शिक्षा मानव, समाज और राष्ट्र के लिए परमावश्यक है उसी तरह शिक्षा को अधिकाधिक लोगों तक पहुँचाने के लिए धन की आवश्यकता है। धनाभाव में अनेक प्रतिभाशाली और अध्ययनशील विद्यार्थी शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। देश की सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक एवं राजनीतिक विषमताओं के कारण सम्पूर्ण साक्षर-शिक्षित भारत का सपना साकार नहीं हो पा रहा है। सरकार के प्रयासों और लुभावनी योजनाओं के बावजूद सरकारी स्कूलों में नामांकन तो बढ़ रहा है, लेकिन गुणवत्तापूर्ण शिक्षा अभी भी अधिकांश जनसंख्या तक नहीं पहुँच पायी है। निजी क्षेत्र में शैक्षिक संस्थानों की अप्रत्याशित बढ़ोतरी भी '**सर्वजनाय शिक्षा**' के संकल्प की पूर्ति में सहायक सिद्ध नहीं हुई। ऐसे में जरूरत है ऐसे शिक्षासंस्थानों की जो सरकारी-तंत्र की विसंगतियों और निजी क्षेत्र की दुर्लभता का मध्यम मार्ग बने। ऐसे विद्यालय परस्पर सहयोग और सामञ्जस्य से स्थापित किये जा सकते हैं। ऐसे विद्यालयों की स्थापना और संचालन में मजबूत इच्छाशक्ति, समर्पण, सेवा भावना और दानदाताओं का सहयोग अत्यन्त अपेक्षित है। वस्तुत: सामाजिक संगठनों, समाजसेवियों एवं दानवीरों के सहयोग के बिना शिक्षारूपी प्रकाश के सर्वत्र प्रसार की कल्पना करना कठिन है। महर्षि दधीचि, राजा बलि और अंगराज कर्ण जैसे अनेक महात्मा अपनी दानवीरता के लिए कलियुग के दानदाताओं के लिए आदर्श प्रतिमान हैं। समाज की आर्थिक परिस्थितियों और शिक्षा की आवश्यकता को समझते हुए दानदाताओं को शिक्षार्थ दान देने में उदारता बरतनी चाहिए। महाभारत में कहा गया है कि - '**कलियुग में दान ही एकमात्र धर्म है**'। स्वामी विवेकानन्द ने चार प्रमुख दानों- धर्मदान, विद्यादान, प्राणदान एवं अन्न-जल दान में से विद्यादान को प्राणदान से भी श्रेष्ठ एवं उच्चतर माना है। फलत: सामर्थ्यवान् को चाहिए कि विद्या जैसे महान् तप की साधना के लिए दानरूपी धर्म का पालन करते हुए अधिकाधिक दान करना चाहिए। प्राय: दानदाता की यह अपेक्षा रहती है कि उसके द्वारा दिया गया दान (धन) किसी सत्कार्य अथवा उद्देश्य की पूर्ति में सहायक बने और शिक्षा से उत्तम सत्कार्य भला क्या हो सकता है! अत: विद्यावान्-दानवान् नागरिकों के समन्वय से समाज तथा राष्ट्र का विकास निश्चित है।

शिक्षा और दान का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। '**शिक्षा का दान**' अथवा '**शिक्षा के लिए दान**' इस अभिप्राय को शिक्षित एवं परोपकारी समाज को आत्मसात् करते हुए ऐसे पुनीत कार्य के लिए यथासम्भव, यथाशक्ति सहयोग करना ही चाहिए। अमेरिकी विद्वान् जॉन डी वी के अनुसार, '**जिस प्रकार शारीरिक विकास के लिए भोजन का महत्त्व है, उसी प्रकार सामाजिक विकास के लिए शिक्षा का**'। सारांश में कहा जा सकता है कि शिक्षा और दान के संगम में अमृतपान कर यह समाज अपनी भावबाधाओं से मुक्ति पा सकता है।

- साहित्याचार्य, शिक्षा स्नातक, बी.जे.एम.सी.,
2/100, हाउसिंग बोर्ड कलोनी, जवाहरनगर, श्रीगंगानगर-335001 (राज.)

thearyasamaj.org

दुःख में भी सुख की तलाश कीजिये

– ठाकुरदास कुल्हारा

दुख में भी सुख की तलाश कीजिये।
सुख का निरंतर, विकास कीजिये।।
लाभ हानि भी आते जाते हैं, जिन्दगी
हानि में भी, लाभ को, तलाश लीजिये।।
संत ग्रंथ, सत्संग का, लेते रहिये आश्रय
अज्ञान मिटा, ज्ञान का, विकास कीजिये।।
जीवन के मूल्यों को, सीख समझ अपने
प्रगति पथ बढ़ने, प्रयास कीजिये।।
श्रम की कर पूजा, खा ईमां की रोटी
हिरदय में भर, उल्लास लीजिये।।
नफरत, बुराई, बैर, ईर्ष्यादि अवगुण
मन में कभी न, निवास दीजिये।।
काम क्रोध आदि रोग उपजें न ज्यादा
नित्यप्रति, प्रभु से, अरदास कीजिये।।
प्राणी पदार्थों की, आसक्ति तजकर
चरणों में, प्रभु के, निवास कीजिये।।
सौंप दीजे, जीवन का, भार जिसके हाथ में
किरपा का उसकी, अहसास कीजिये।।
नाम, रूप, लीला, गुण धामों का हरदम
ध्यान कर, आनंद सुवास लीजिये।।

– 23, गंगानगर गढ़ा, जबलपुर– 482 003

thearyasamaj.org

श्रद्धाः आधुनिक सन्दर्भ में

– डॉ. उमा रानी

श्रद्धा शब्द का अर्थ है- आदर, शुद्धि, स्पृहा, चित्त की प्रसन्नता, बड़ों के प्रति आदरभाव आस्था आदि। शास्त्रकारों ने कहा है- **प्रत्ययो धर्मकार्येषु सा श्रद्धेत्यभिधीयते।** मनु द्वारा बताए दश धर्मों[1] (धृति, क्षमा, संयम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, विचारशीलता, ज्ञान, सत्य और क्रोध) के प्रति यदि किसी का विश्वास नहीं है तो वह मनुष्य श्रद्धाविहीन होते हुए मानव कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। वेदान्त में सदानन्द योगी ने श्रद्धा की निम्न परिभाषा दी है- **गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासो श्रद्धा।**[2]

अर्थात् गुरु द्वारा कहे हुए वेदान्त के वाक्यों में विश्वास ही श्रद्धा है। भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियों को इस तथ्य का सम्यक्रूपेण ज्ञान था कि श्रद्धारहित समाज टूट जाता है, उसका विघटन हो जाता है। अतः ऋग्वेद में श्रद्धा की महिमा पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा- श्रद्धायुक्त मानव को धन प्राप्त होता है। यह धन रुपये-पैसे, विद्या, सम्मान, प्रसिद्धि, ख्याति और आध्यात्मिक किसी भी प्रकार का हो सकता है।[3] ऐतरेयोपनिषद् में कहा गया है कि श्रद्धा और सत्य से स्वर्गादि सुखमय लोकों को भी जीता जा सकता है- "**श्रद्धया सत्येन स्वर्गांल्लोकाञ्जयति**"।[4] महाभारत में श्रद्धाविषयक कथन है कि श्रद्धारहित होना महान् पाप है। श्रद्धा समस्त कष्टों का निवारण करने वाली है।[5] श्रद्धात्रय विभागयोग नामक श्रीमद्भगवद्गीता के 17वें अध्याय में श्रद्धा के सन्दर्भ में कहा गया है कि निष्ठारहित होकर किया हुआ हवन, दान, तप तथा जो भी कार्य हो वह इस लोक और परलोक में कहीं भी कल्याणकारी नहीं होता है।[6] क्योंकि अनास्था से किए कार्य में वह स्पष्टता और शुद्धता नहीं होती जो श्रद्धापूर्वक कृतकार्य में होती है। याज्ञवल्क्य-स्मृति के अनुसार- मनुष्यों द्वारा श्रद्धा और विधिपूर्वक किया हुआ कार्य विशुद्धभाव से फलदायक होता है।[7]

स्कन्दपुराण में बताया गया है कि - मनुष्य द्वारा श्रद्धा से भजा गया पत्थर भी फल देने वाला होता है वैसे ही मूर्ख से भक्तिपूर्वक पूजित गुरु भी सिद्धिदायक होता है।[8] उपर्युक्त वर्णन में श्रद्धा के प्रति आस्था की पराकाष्ठा है। इसमें वास्तविकता भी है। क्योंकि जिस मानव के प्रति हमारा मन आस्था-रहित होता है वह कितनी भी रुचिर बातें करे हमारा ध्यान अपनी और आकर्षित नहीं कर सकता। जिस वस्तु में हमारी श्रद्धा नहीं होती उसके गुणकारी होने पर भी हम उसे ग्रहण नहीं

1. मनुस्मृति, 6. 92
2. वेदान्तसार, पृ. 65
3. ऋग्वेद 10. 151
4. ऐतरेयोपनिषद्, 7. 10
5. महाभारत शान्तिपर्व 264.15
6. गीता, 17. 28
7. याज्ञवल्क्यस्मृति ।
8. स्कन्दपुराण

thearyasamaj.org

करते। नारदपुराण का कथन है- श्रद्धावान् व्यक्ति ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।[9] इस प्रकार पौराणिक साहित्य तो श्रद्धा-महिमा से ओत:प्रोत है।

बौद्धकवि अश्वघोष का मत है- श्रद्धाधनं श्रेष्ठतमं धनेभ्य:।[10] अर्थात् सब धनों से श्रद्धारूपी धन श्रेष्ठ है। क्योंकि इसके होने पर सभी धन सुगमता से उपलब्ध हो जाते हैं। श्रद्धा के बारे में बौद्धधर्म के ग्रन्थ सुत्तनिपात में लिखा है- **''सद्धाय तरती ओघम्''**।[11] श्रद्धा से मानव इस भवसागर को तैर लेता है।

वर्तमानकालिक विचारकों ने भी श्रद्धा के विषय में स्वविचार व्यक्त किए हैं-जैसे गोस्वामी तुलसीदास का कथन है- **''श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई''**।[12] अर्थात् श्रद्धा विना धर्म अथवा कर्त्तव्य पूर्ण नहीं हो सकता। महात्मा गान्धी के शब्दों में- श्रद्धावान् को कोई परास्त नहीं कर सकता। गुरु रामदास के मत में- चाहे गुरु के प्रति हो, चाहे ईश्वर के प्रति हो, श्रद्धा अवश्य रखनी चाहिए, क्योंकि इस के बिना सब कुछ व्यर्थ है।[13] स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि- श्रद्धा आवश्यक गुण है। जब तक मानव के अन्दर धर्म और ईश्वर के प्रति अटूट श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती, तब तक वह ज्ञानी होने की सम्यक् आकांक्षा नहीं कर सकता।[14] जर्मन विद्वान् गैटे का कथन है कि - केवल श्रद्धा ही जीवन को शाश्वत बनाती है।

इस प्रकार प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद से लेकर 20वीं शताब्दी तक के सम्पूर्ण ग्रन्थों और विचारकों ने श्रद्धा-महिमा का वर्णन करते हुए उसे श्रेष्ठ तत्त्व कहा है। जबकि आधुनिक समय में भारतीय संस्कृति का यह तत्त्व समूल उन्मूलित होता जा रहा है। आज पाश्चात्य संस्कृति के अन्धानुकरण से भारतीय सांस्कृतिक मूल्य पर्याप्तरूपेण परिवर्तित हो रहे हैं। सर्वत्र अविश्वास, बेईमानी, असंयम, झूठ, अनुशासनहीनता, आत्मश्लाघा, छल-कपट, चुगलखोरी, भ्रष्टाचार, पाखण्ड, नास्तिकता और दिखावा आदि श्रद्धा-विरोधी गुण परिलक्षित हो रहे हैं। भाई-भाई को ठग रहा है, परिवार और समाज विघटित हो रहे हैं, आस्तिकता नास्तिकता में बदल रही है। समाज के लोग निज साधनों की उपेक्षा करके भौतिक सामग्री जुटाने में तल्लीन हैं,धर्म पर अधर्म और गुणी पर निर्गुणी हावी हो रहा है। विद्वत्पूजा के स्थान पर मूर्खपूजा हो रही है। गुरु-शिष्य सम्बन्ध शिथिल हो रहे हैं। गुरु की शिष्य के प्रति, शिष्य की गुरु के प्रति, पति-पत्नी की एक-दूसरे के प्रति, बच्चों की माता-पिता के प्रति, राजा की प्रजा और प्रजा की राजा के प्रति श्रद्धा के अभाव के कारण सर्वत्र अविश्वास का वातावरण बन चुका है। दूसरे शब्दों में इस स्थिति पर गहनता से विचार करने पर ज्ञात होता है कि श्रद्धा की विलुप्तता के कारण ही ये सारे बदलाव

---

9. नारदपुराण पूर्वभाग प्र. पाद, 4. 6
10. सौन्दरनन्द, 12.24
11. सुत्तनिपात, 1.10.4
12. रामचरितमानस, 7. 90. 3
13. दासबोध, पृ. 201
14. विवेकानन्द साहित्य, तृतीय खण्ड ; पृ. 101

thearyasamaj.org

हो रहे हैं। इन परिवर्तनों के कारण आधुनिक समाज की दुर्दशा से चिन्तित स्वामी विवेकानन्द जी का कथन है कि- हमें आज जो कुछ चाहिए था वह यह श्रद्धा ही है। दुर्भाग्यवश भारत से इसका प्रायः लोप हो गया है और हमारी वर्तमान दुर्दशा का कारण भी यही है। एकमात्र इस श्रद्धा के भेद से ही मनुष्य-मनुष्य में अन्तर पाया जाता है इसका और दूसरा कोई कारण नहीं है। यह श्रद्धा ही है जो एक मनुष्य को बड़ा और दूसरे को छोटा बना देती है। इस श्रद्धा को तुम प्राप्त कर लो।[15] निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आधुनिक समाज में नष्ट होते जा रहे श्रद्धा नामक इस महनीय गुण को प्राचीन ऋषि-मुनियों और विचारकों ने श्रेष्ठ माना है। हमें उन्हीं का अनुकरण करते हुए अपने समाज, राष्ट्र व विश्वहित हेतु संस्कारयुक्त व श्रद्धावान् होते हुए आत्मविकास के मार्ग पर अग्रसर होना चाहिए। क्योंकि तभी हमारा समाज, राष्ट्र तथा विश्व का कल्याण सम्भव हो सकता है। वर्तमान अराजकता की परिस्थिति से मुक्ति पाने का श्रद्धा (कर्त्तव्य-परायणता) ही एकमात्र अवलम्बन अवशिष्ट है। निष्ठा ही हमारी उन्नति की पथ-प्रदर्शक है जिसके बल पर हम सब भारतवासी स्वदेश को ऊँचाई तक ले जा सकते हैं।

– असिस्टैंट प्रोफेसर संस्कृत, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ऊना (हि.प्र)

---

15. भारत में विवेकानन्द, पृ. 277

thearyasamaj.org

चैतन्य-वेदान्त में गोस्वामिगदाधर भट्ट का स्थान

– सुश्री निधि चौधरी

गोस्वामिगदाधर भट्ट का स्थान अनन्य रसिक भक्तों तथा कवियों में उच्च है। ये परोपकार की मूर्ति, गुणों के सागर, सर्वप्रिय तथा श्रीमद्‌भागवत के अनुपम वक्ता थे। ये माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदायानुयायी थे। श्रीगदाधर भट्ट के परिचय में सबसे प्रामाणिक एवं प्राचीन टीका श्रीनाभादासजी रचित 'भक्तमाल' एवं उस पर लिखी गई प्रियादासजी कृत टीका है। इनका परिचय 'भक्तमाल' में श्रीनाभादासजी ने इस प्रकार दिया है[1]–

सज्जन, सुहृद, सुशील वचन आरज प्रतिपालय।
निर्मत्सर निहकाम कृपा करुणा के आलय।।
अनन्य भजन दृढ़ करनि धर्‌यौ वपु भक्तनि काजै।
परम धाम कौ सेतु विदित वृन्दावन गाजै।।
भागवत सुधा वरषै वदन काहू कौ नाहिन दुखद।
गुन निकर गदाधर भट्ट अति सबहिन को लागै सुखद।।

इससे उनके सद्‌गुण, स्वभाव, व्यवहार, सदाचरण, भजनपरायण, धार्मिक व्यक्तित्त्व का परिचय प्राप्त होता है। इनका जन्म-स्थान आन्ध्र प्रदेश का वेल्लनाड ग्राम व जन्म सम्वत् 1561 है। ये आङ्गीरस्, भार्म्याश्व, मौद्‌गल्य-इन तीन प्रवरों से अन्वित मौद्‌गल्य गोत्रोत्पन्न तैत्तिरीय आपस्तम्बशाखाध्यायी कृष्णयजुर्वेदीय ब्राह्मण थे। इनके पिता श्री पद्माकर भट्ट तथा माता पद्मावती थी। परम्परागत प्रकाण्ड वैदुष्य और श्रीमद्‌भागवत के सुमधुर प्रवचनकार होने के कारण ये 'भट्ट' उपाधि से विभूषित हुए[2]। पूर्व-सञ्चित संस्कारों एवं पुण्य के बल पर श्रीहरि की किसी सुन्दर अन्तःप्रेरणा से इनका चित्त श्यामरंग की ओर आकर्षित हो उठा। इन्होंने अपने घर पर ही निम्न पद की रचना की, जिसकी प्रसिद्धि सर्वत्र फैल गई[3]–

सखी हौं स्याम रंग रंगी।
देखि विकाइ गइ वह मूरति, सूरत माहिं पगी।।

..

कैसे कै कहि जात गदाधर, गूँगे को गुड़ स्वाद।।

वृन्दावन में किसी साधु के मुख से इस पद को सुनकर श्रीजीवगोस्वामी अत्यन्त चकित हुए और उन्होंने एक पत्र श्री गदाधर भट्ट को लिखा, जिसमें निम्न श्लोक था–

अनाराध्यराधापदाम्भोजरेणु-
मनाश्रित्य वृन्दाटवीं तत्पदाङ्कम्।
असम्भाष्य तद्‌भावगम्भीरचित्तान्,
कुतः श्यामसिन्धोः रसस्यावगाहः।।

अर्थात् जिसने श्रीराधिका के चरणकमल-

1. भक्तमाल, श्रीनाभादास, पृ. सं. 786
2. चैतन्य महाप्रभुः संस्कृति तथा साहित्य, डॉ. उषा गोयल, पृ. . 412, 417
3. वही, पृ. . - 418

thearyasamaj.org

रज की आराधना नहीं की तथा जो श्री राधाचरणकमलांकित श्रीवृन्दावन के आश्रित नहीं हुआ, जिसने राधा-भाव रस से गम्भीर चित्त वाले रसिकों का संग नहीं किया वह कैसे श्रीश्याम रसरूप के महासमुद्र में गोता लगा सकता है ?

श्रीजीवगोस्वामिपाद का पत्र प्राप्त करते ही उसे गदाधर भट्ट ने प्रेमानन्द से पढ़ा और स्वयं बाह्य दशाशून्य हो गए और वहाँ से वृन्दावन के लिए प्रस्थान कर गये[4]। वृन्दावन में श्रीजीवगोस्वामी से मिलकर इन्होंने श्रीभागवतरस का आस्वादन किया। तत्कालीन वृन्दावन में गौड़ीय आचार्यों का पूर्ण आधिपत्य था तथा श्रीगोविन्द, गोपीनाथ, मदनमोहन, राधादामोदर, राधारमणादिक वृन्दावन के वैभवरूप भगवद्-विग्रहों का प्राकट्य हो चुका था। श्रीमहाप्रभु के षट्गोस्वामिवृन्द में एकतम श्रीरघुनाथ भट्ट गोस्वामी जो उस समय भागवतादि वैष्णव-शास्त्रों के धुरन्धर विद्वान् तथा अद्भुत वक्ता थे, के गदाधर भट्ट शिष्य हो गये।

श्रीगदाधर भट्ट जी के काल का अनुमान उनके वृन्दावन-आगमन से ही लगाया जा सकता है। श्रीजीवगोस्वामी का जन्म वि. 1568 है और उनका वृन्दावन-आगमन काल वि. 1590 के समीप है।[5] श्रीरघुनाथ भट्ट का गोलोकवास 1611 वि.सं. माना जाता है।[6] अतः वि. 1590 से वि. 1611 के मध्य ही गदाधर भट्ट वृन्दावन आए होंगे, क्योंकि वृन्दावन-आगमन से पूर्व वे गृहस्थ थे। अतः उनकी आयु 25-30 वर्ष अवश्य ही होगी।

श्रीगदाधर भट्ट भागवतपुराण के उत्तम वक्ता थे और उनके कथावाचन के श्रवण हेतु दूर-दूर से लोग आते थे तथा भावविभोर होकर अश्रुपात करते हुए कथा का श्रवण करते थे। ऐसा भी प्रचलित है कि कथा-श्रवण करके जिनके नेत्रों से प्रेमाश्रु नहीं निकलते थे, वे स्वयं को हतभाग्य समझकर नेत्रों में मिर्च डालकर अश्रुपात करते थे[7]।

श्रीगदाधर भट्ट द्वारा रचित कोई स्वतन्त्र रचना प्राप्त नहीं होती। उनके द्वारा रचित एक शतक से अधिक फुटकर पद ही प्राप्त होते हैं। इनकी कविता अति-उत्कृष्ट कोटि की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनके पद-विन्यास की अत्यधिक प्रशंसा की है तथा इनकी कविता को गोस्वामी तुलसीदास के सदृश बताया है।[8] श्री वियोगी हरि ने इनकी रचनाओं को अष्टछाप के उत्कृष्ट कवियों के समान बताया है।[9] डॉ. शरणबिहारी गोस्वामी का मत है कि इनकी कविताओं में 'सखीभाव' प्रधान है तथा अभिव्यक्ति में वह हित हरिवंश जी की कविताओं के समतुल्य है।[10] इनकी रचनाओं में कुछ संस्कृत के पद भी हैं, जो स्तोत्र (स्तव)

4. भक्तिरसबोधिनी टीका, श्रीप्रियादास, छन्द सं. = 523-524
5. चैतन्य-मत और ब्रज-साहित्य, प्रभुदयाल मीतल, पृ. = 38, 157
6. ब्रज के धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास , पृ. 317
7. भक्तिरसबोधिनी टीका, छं. 525-528
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आ. रामचन्द्र शुक्ल, पृ. = 183
9. ब्रज माधुरी सार (वियोगी हरि) पृ. 76
10. कृष्ण भक्तिकाव्य में सखीभाव, डॉ. शरणबिहारी गोस्वामी, पृ. सं. 616

thearyasamaj.org

काव्य के लक्षण हैं। संस्कृत-निष्ठ कोमलकान्त पदावली के साथ ब्रजभाषा की सुमधुर शब्दावली इनकी रचनाओं की विशेषता है। इनके पदों में माधुर्य-रस एवं ब्रजरस की प्रगाढ़ व्यञ्जना हुई है। इनकी रचनाओं के मुख्य विषय हैं- युगलस्वरूप वर्णन, रास, बधाई, यशोदानन्दन की वन्दना, वंशी, अनुराग, मान, कालियमर्दन, विवाह, ज्यौनार, विनय, नाम-महिमा, होरी-धमार, वसन्त-हिन्डोला, पावस ऋतुवर्णन। कुछ विद्वान् इनके द्वारा रचित पद 'योगपीठ' को स्वतन्त्र रचना मानते हैं।[11] (इसमें 108 पंक्तियाँ हैं, जिन्हें सुरमनि के 108 मनकों की भाँति समझना चाहिए) इनकी रचनाओं का गायन नन्दगाँव, बरसाना व अन्य सम्प्रदायों के मन्दिरों में उल्लासपूर्वक एवं प्राचीन परम्परानुसार होता है।

श्रीगदाधर भट्ट के सेव्य-निधि श्रीराधामदनमोहन जी हैं, जो उन्हें माघ शुक्ल 5 (बसन्तपञ्चमी) के दिवस यमुना की रेणुका से प्राप्त हुए थे। यह विग्रह वर्तमान में अठखम्भा मौहल्ला में स्थित श्रीगदाधरभट्ट गोस्वामी पीठ, श्रीमदनमोहन जी के मन्दिर में विराजमान है। इनकी सेवा इन्हीं के वंशज-परम्परा से करते आ रहे हैं। यहाँ आज भी प्रत्येक उत्सव पर अत्यन्त उल्लासपूर्वक समाज-गायन होता है, जो वृन्दावन में 'भट्टजी के समाज' के नाम से प्रसिद्ध है।

श्री ध्रुवदास[12], नागरीदास[13], भगवतरसिक[14] आदि भक्त कवियों ने श्रीगदाधर भट्ट के समुज्ज्वल चरित्र और उत्कृष्ट भक्ति-भावना, वाणी की सुमधुरता तथा उनके द्वारा कथित भागवत की कथा शैली की सरसता की प्रशंसा की है। प्रियादास ने 'भक्तमाल' की अनुक्रमणिका स्वरूप एक लघु कृति में इस प्रकार लिखा है[15] -

भट्ट गदाधर परम रसज्ञ।
चौमुख चौर सब सरवज्ञ।

भक्तमाल में उनके अन्तः तथा बाह्य दोनों पार्श्वों का रेखाङ्कन है। यह छप्पय उनके जीवन के तारतम्य, उतार-चढ़ाव, घटनाक्रम का विश्लेषण करता है। जिसमें उनके अन्तःस्वरूप की सृष्टि प्रस्तुत की तथा भक्त और कवि के रूप में ढलने की पृष्ठभूमि को उजागर किया। जिससे गोस्वामी गदाधर भट्ट के व्यक्तित्त्व और चैतन्य-वेदान्त में स्थान का निर्धारण हुआ।

-शोधछात्रा, संस्कृत विभाग, ए-33, अमर नगर,
खिरनी फाटक के पास, खातीपुरा, जयपुर (राज .)

11. चैतन्य महाप्रभुः संस्कृति और साहित्य, उषा गोयल, पृ. सं. 419
12. भक्त नामावली (ह. लि. ग्रं.), पृ. - 22
13. नागरीदास ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पदप्रसंगमाला, पृ. 391
14. श्रीभगवतरसिकदेव की वाणी, भक्त नामावली, पृ. 58
15. भक्त सुमरिनी, चौ. सं. 176, पृ. 37

thearyasamaj.org

भवभूति के कारुण्य की समीक्षा

– श्री शान्तिलाल सालवी

कविराज विश्वनाथ के अनुसार रसात्मक वाक्य को काव्य कहा जाता है।[1] रस काव्य की आत्मा है। भारतीय काव्यशास्त्र में विद्यमान रस-चिन्तन मुख्यत: भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक माना जाता है। इस दीर्घ समयावधि में प्रत्येक रस के वैशिष्टय का स्वतन्त्र चिन्तन नहीं हुआ है। चूँकि श्रृंगाररस को अंगीरस तथा रसराज के रूप में मान्यता मिली, अत: तद्विषयक आलोचनाएँ भी बहुत हुईं। श्रृंगाररस के समान यद्यपि करुण-रस की सैद्धान्तिक विवेचना का क्षेत्र समृद्ध तो नहीं हुआ तथापि व्यावहारिक-भूमि पर करुण-रस को पर्याप्त आश्रय मिला है। करुण-रस को रामायण के साथ-साथ काव्य के प्रत्येक क्षेत्र में मान्यता मिली तथा इसकी लोकप्रियता सहृदयों में आज भी विद्यमान है।

देखा जाये तो काव्य का जन्म ही करुण-रस से आरम्भ हुआ है, क्योंकि आदिकवि का आदिश्लोक शोक से ओत:-प्रोत था।[2] आनन्दवर्धन ने इस शोक को ही काव्य की आत्मा माना है।[3] लौकिक जीवन का शोक उस करुण-रस की अलौकिक अनुभूति से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि लौकिक रत्यादि स्थायीभाव तथा रसरूपता को प्राप्त करने वाले सहृदयनिष्ठ अलौकिक रत्यादि भाव पूर्णतया भिन्न हैं। इस भिन्नता का कारण भक्तिरसायन में दिया गया है। काव्य में रामादि आश्रयों में निरूपित किए जाने वाले रत्यादि लौकिक हैं, किन्तु रसास्वाद के समय सहृदयों में उद्बुद्ध संस्कार रूप रत्यादि अलौकिक हैं।[4] यह करुण-रस इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से निष्पन्न होता है तथा 'शोक' स्थायीभाव से युक्त होता है, जैसा कि भरतमुनि का मानना है।[5]

भरतमुनि के पश्चात् रुद्रट[6], धनंजय[7], आनन्दवर्धन[8],कविराज विश्वनाथ[9], शारदा-तनय[10], शिंगभूपाल[11], पण्डितराज जगन्नाथ[12] आदि परवर्ती आचार्यों ने करुण-रस को परिभाषित करने का प्रयास किया, किन्तु उपर्युक्त आचार्यों की परिभाषाओं में कुछ नूतनता नहीं है, अपितु भरतमुनि के मत का समर्थन मात्र है।

1. साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद, पृ. 16.
2. रामायण, 1. 2. 15.
3. ध्वन्यालोक, 1/5.
4. भक्तिरसायन, 3/4.
5. नाट्यशास्त्र,षष्ठ अध्याय, पृ. 730 पर अभिनवभारती।
6. काव्यालंकार, 15/3, 4.
7. दशरूपक, 4/81, 82.
8. ध्वन्यालोक, 1/5 की वृत्ति।
9. साहित्यदर्पण, 3/ 222.
10. भावप्रकाश, तृतीय अधिकार, 39, पृ. 87.
11. रसार्णवसुधाकर, 2/ 245.
12. रसगंगाधर, प्रथमानन,पृ.141.

thearyasamaj.org

संस्कृत नाट्य-साहित्य की परम्परा में अनेक महाकवियों ने अपनी-अपनी रचनाओं में करुण-रस को अंगरस के रूप में वर्णित करने का स्तुत्य प्रयास किया है, किन्तु उपर्युक्त सभी महाकवियों की अपेक्षा करुण रस के चित्रण में सर्वाधिक सिद्धहस्त कवि महाकवि भवभूति हैं। महाकवि भवभूति ने अपने उत्तररामचरित में करुणरस की महत्ता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि- करुणरस ही एकमात्र रस है, शेष रस उसी के निमित्तभेद से विवर्तमात्र हैं।[13]

भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार नाटक का अंगीरस श्रृंगार या वीर होता है।[14] महाकवि भवभूति ने इस नियम का पालन अपने मालतीमाधव तथा महावीरचरितं प्रथम दो नाटकों में किया है। महाकवि ने नाटक में करुण रस की महत्ता को स्पष्ट करने के लिए उत्तररामचरित नाटक का कथानक रामायण से लिया है जिसका नायक सर्वशक्तिसम्पन्न तथा सभी का आदर्श था। भवभूति का 'शोक' जिस रूप में हमारे सामने उपस्थित हुआ है, वह जीवन की अतल गहराई में बैठे हुए कवि की ऐसी जीवनदृष्टि का परिचायक है जो रूपात्मक साहित्य बन कर अभिव्यक्त हुआ है।

महाकवि भवभूति ने अपने उत्तररामचरित के नायक की स्थिति दूसरे अंक से सप्तमांक तक असहाय वर्णित की है। प्रथम अंक में राम और सीता के बाह्य एवं आन्तरिक सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। इसी अंक में अष्टावक्र दो प्रकार के संदेश लेकर आते हैं- प्रथम वसिष्ठ का आशीर्वचन कि सीता वीरपुत्र को उत्पन्न करेगी **वीरप्रसवा भूयाः**[15] तथा अरुन्धती और ननद शान्ता का आदेश कि सीता की दोहदपूर्ति अवश्य होनी चाहिए। दूसरा संदेश कि "प्रजा को प्रसन्न करने में राम तत्पर रहें, उससे जो यश होगा वही राम का श्रेष्ठ धन है।"[16] राम यह संदेश सुनकर तुरन्त कहते हैं कि प्रजा के अनुरंजन के लिए स्नेह, दया और सुख अथवा सीता को भी छोड़ते हुए मुझे दुःख नहीं होगा।[17]

इसी अंक में ही कुछ क्षणों के बाद दुर्मुख के द्वारा विदेहराज की पुत्री सीताविषयक फैले हुए अपवाद की सूचना दी जाती है तब राजा राम सीता को हिंसक जन्तुओं से युक्त गहन कान्तार में भेज देते हैं, किन्तु राम सीता की पवित्रता को जानते हैं तथा उसकी स्वर्ण-प्रतिमा यज्ञ में स्थापित करते हैं। इस तरह राम निरन्तर अन्तर्द्वन्द्व की पीड़ा से जूझते रहते हैं, यही अन्तर्द्वन्द्व, यही व्यथा, यही शोक सम्पूर्ण उत्तररामचरित पर छाया है।

तृतीय अंक के प्रारम्भ में ही अन्तर्द्वन्द्व से मथित राम के पुटपाक सदृश करुण की चर्चा की गई है।[18] शोकाकुल राम वनदेवी वासन्ती से सीता के विनाश का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उसका कोमल शरीर हिंसक जन्तुओं के द्वारा

13. उत्तररामचरित, 3/47. 14. सा.द.6/10. 15. उत्तररामचरित, 1/9
16. वही, 1/11. 17. वही, 1/12. 18. वही, 3/1.

thearyasamaj.org

निश्चित ही नष्ट कर दिया गया होगा।[19] वासन्ती से वार्तालाप करते हुएं राम रो उठते हैं (अन्य इव आर्यपुत्रः प्रमुक्तकण्ठं रोदिति)। किन्तु राजा राम को रोने का अधिकार अब कहाँ है? शास्त्रीय दृष्टिकोण से धीरोदात्त नायक का इस तरह का रुदन उचित नहीं था। किन्तु भवभूति की यह योजना साभिप्राय है। अतः राम एक स्थान पर कहते दिखाई देते हैं कि "दुःख को कम करने का उपाय एकमात्र रुदन है।"[20]

वस्तुतः करुणा का विषय ही कुछ ऐसा होता है जो इष्टजन के वियोग से उत्पन्न होता है तथा जिसे निरवधि चुपचाप सहन करना पड़ता है। राम की स्थिति भी ऐसी ही है और इस दयनीय स्थिति में भी शोक के अन्तर्दाहक होने का कारण राम स्वयं ही हैं।[21]

यद्यपि राजा राम लोकैषणा और दारैषणा को कुछ सीमा तक दमित करते हुए प्रतीत होते हैं, किन्तु वह अर्द्धचैतन्य स्तर तक ही है। इस तरह निरुपाय, भीतर से पूर्णतया अशक्त राम के प्रलाप निरन्तर चलते हैं। लोकमर्यादा के लिए राजा राम ने सीता का परित्याग तो कर दिया किन्तु बाद में मर्यादा के प्रति कुण्ठित भावापन्न दिखाई देने लगे। आखिर कब तक पुटपाक से राम अपने आपको बचाते रहेंगे? उनके अन्तर्द्वन्द्व की घनी व्यथा अन्दर ही अन्दर दुःखित करती हुई खलबली मचा रही है, जिसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर भी निश्चित रूप से दिखाई देता है, क्योंकि चन्द्रकेतु जैसा अल्पायु का व्यक्ति भी राम के अस्तित्वविपन्न, वेदनामय एवं क्लान्त रूप की ओर संकेत कर उठता है।[22]

षष्ठ अंक में राम लव और कुश से मिलकर अपूर्व वात्सल्य की अनुभूति करते हैं, किन्तु उनकी आकृति में सीता की झलक पाकर तथा गर्भभरालसा निर्वासिता सीता का स्मरण आते ही उनकी आँखों में आँसू भर आते हैं। राम की ऐसी स्थिति देखकर कुश लव से इस विषय में अपने विचार भी व्यक्त करता है।[23]

सप्तम अंक भवभूति की एक अद्‌भुत सृष्टि है जहाँ राम तथा सीता को मिलाकर नाटक को सुखान्त बना दिया है जो कि शास्त्रीय नियमानुसार उचित है। अन्त में हम कह सकते हैं कि शोक की जो तन्मयता एवं तरलता इस नाटक में पिरोई गई है वह भारतीय नाटक की शोकधारा का परिणत रूप है। इस प्रकार उत्तररामचरित में अनेक अन्तर्द्वन्द्वों को देखकर तथा नायक के हृदय की कठोरता एवं कोमलता को देखकर आलोचकों को एक मत होकर मानना पड़ा कि **कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते।**

– **शोधछात्र, संस्कृत-विभाग,**
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.) 313001

19. उत्तररामचरित, 3/28. 20. वही, 3/29. 21. वही, 3/44.
22. वही, 5/25. 23. वही, 6/30.

thearyasamaj.org

संस्थान समाचार

दान-

श्री एम. पी. वीर,
18 सी, विजय नगर, दिल्ली। 501/-

श्री दीपक जैन, महाराजा रेजेन्सी,
अगर नगर 2, लुधियाना। 15000/-

प्रिं. इन्द्रजीत तलवाड़,
57, कस्तूरबा नगर, जालन्धर कैंट। 500/-

डॉ. राजविन्द्र कौर, सुपुत्री श्री मनजीत सिंह,
गांव बूथगढ़, डा.घ. राम कलोनी कैंप,
होश्यारपुर। 5000/-

श्री अनिल वासुदेव,
8 प्रिंसस् ऐवन्यू, किंगजवरी,
लन्दन (यू.के)। 8000/-

हवन-यज्ञ-

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के कार्य-दिवस का शुभारम्भ प्रतिसप्ताह के प्रथम दिन सत्संग-मन्दिर में हवन-यज्ञ से हुआ।

दिसम्बर, 2014 के द्वितीय रविवार को संस्थान के सत्संग-मन्दिर में परम पूज्य स्वामी सत्यानन्द जी महाराज के द्वारा चलाई गई परम्परानुसार उनके भक्तों के द्वारा अमृतवाणी का संकीर्तन भी नियमित रूप से किया गया।

बधाई –

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान की कार्यकारिणी सभा की सदस्या डॉ. रेनू कपिला (प्रोफैसर तथा अध्यक्षा लोक-प्रशासन विभाग पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला) को भारतीय लोक-प्रशासकीय सभा की ओर से सर्वसम्मति से दिनांक 21-12-2014 को कार्यकारिणी की सदस्या चुने जाने पर संस्थान की कार्यकारिणी संभा तथा कर्मिष्ठवर्ग की ओर से बहुत-बहुत बधाई।

पंजाब विश्वविद्यालय पटल के सेवानिवृत्त प्रो. राजकुमार के यहां पौत्ररत्न की प्राप्ति पर संस्थान के कर्मिष्ठवर्ग की ओर से बहुत-बहुत बधाई।

शोक समाचार-

अत्यन्त दु:ख के साथ सूचित किया जा रहा है कि हीरो परिवार के महात्मा सत्यानन्द मुंजाल की पुत्रवधु श्रीमती हर्ष मुंजाल जी का दिनांक 3-9-2014 को नई दिल्ली में निधन हुआ। आप अपने पीछे भरा-पूरा परिवार छोड़ कर गई हैं। आपका यज्ञ से विशेष लगाव था और आपके परिवार में प्रतिदिन यज्ञ होता है। आपने महिलाओं का एक छोटा-सा संगठन भी बना रखा था, जिसकी 60 के लगभग महिलाएं सदस्य हैं। वह इस कार्य में सर्वथा उनको भरपूर सहयोग प्रदान कर आर्य संस्कृति में अपना हाथ बढ़ाती रहीं हैं।

इस शोक के अवसर पर शोकसंतप्त परिवार के प्रति संस्थान के कर्मिष्ठवर्ग की ओर से हार्दिक समवेदना प्रकट की जाती है। परमपिता परमात्मा से दिवंगत आत्मा को शान्ति प्रदान करने तथा उनके शोकाकुल परिवार को इस दु:ख को सहने की शक्ति प्रदान करने की प्रार्थना की जाती है।

ऊँ शान्ति:! शान्ति:!! शान्ति:!!!

thearyasamaj.org

विविध समाचार

डी.ए.वी. सफिलगुड़ा में यज्ञमहोत्सव-

आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि उपसभा तेलंगाना के तत्त्वावधान में महात्मा हंसराज जी के 150 वें जन्म दिन के उपलक्ष्य में डी.ए.वी. सफिलगुडा (हैदराबाद) में बड़ी श्रद्धा और उत्साह से 51 कुण्डीय यज्ञ-महोत्सव किया गया। इस यज्ञ महोत्सव में मुख्य अतिथि और यजमान आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के प्रधान आर्यरत्न श्री पूनम सूरी जी तथा अन्य बहुत से गणमान्य महानुभावों एवं तेलंगाना-क्षेत्र की विभिन्न आर्यसमाजों के सदस्यों व शिक्षकों ने भाग लिया।

कार्यकम का उद्‌देश्य था- आओं संसार सुखमय बनाएं। इस अवसर पर आर्यरत्न पूनम सूरी जी ने इस प्रथम आयोजन पर प्रदेश के आयोजकों को बधाई दी तथा आर्य विद्वानों, संन्यासियों, प्राचार्यों और शिक्षकों को सम्मानित भी किया।

इस अवसर पर श्री पूनम सूरी जी ने- ओम् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव-मन्त्र का अर्थ समझाते हुए उपस्थित सभासदों को जीवन में अच्छाईयों को धारण करने की प्रेरणा भी दी। उन्होनें सुखी संसार के लिए संध्या, स्वाध्याय, सत्संग और सेवा के महत्त्व पर बल दिया। श्री जे.पी. शूर जी ने आयोजन में उपस्थित सभी आर्यजनों का धन्यवाद किया। अन्त में शांतिपाठ द्वारा इस आयोजन का समापन किया गया।

स्वर्ण जयन्ती महोत्सव-

गुरुकुल आर्यनगर (हिसार) का स्वर्ण जयन्ती महोत्सव, शनिवार, रविवार-6-7 दिसम्बर को बड़ी धूमधाम से मनाया गया। इस कार्यक्रम में साधु-संन्यासी, वैदिक विद्वान् तथा आर्य भजनोपदेशकों ने भाग लिया। इस महोत्सव में यज्ञ एवं यज्ञोपवीत धारण करवाने की व्यवस्था की गई थी। 6 दिसंम्बर को सत्यार्थप्रकाश सम्मेलन में विद्वानों ने अपने-अपने विचार प्रकट किए। इसी अवसर पर 6-7 दिसम्बर को गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने मनोहारी व्यायाम आदि कार्यक्रम भी प्रस्तुत किये। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन गुरुकुल के छात्रों द्वारा संस्कृत-हिन्दी में भाषण, श्लोंको-च्चारण तथा गीत आदि का रोचक कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया गया।

thearyasamaj.org

कर्माण्यकुह कार्याणि येषां वाचश्च सूनृताः।
येषाम् अर्थाश्च सम्बद्धाः दुर्गाण्यतितरन्ति ते।।

महा.शा. प. 110.12

इस संसार में जिनके कार्य केवल दूसरों को दिखावे के लिए नहीं होते,अर्थात् वे कर्त्तव्य समझ कर कर्म करते रहते हैं। जिनकी बोलवाणी, सत्य तथा मिठास से युक्त होती है। जिनक धन अर्थात् जीवन की कमाई अच्छे कार्यों के लिए ही खर्च होती है। वे भयंकर से भयंकर कष्टों को भी हंसी-हंसी में दूर कर लेते हैं अर्थात् वे सभी प्रकार के कष्टों से छूट जाते हैं।

With best compliments from :

Mr. Anil Vasudev

8, Prince's Avenue,

Kingsbury,

London (U. K.)

thearyasamaj.org

सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मविद् बुधः।
प्राप्येह लोके सत्कारं सुगतिं प्रतिपद्यते ।।

महा. शान्ति प. 160. 23

जो व्यक्ति सदाचारी, सच्चरित्र, सर्वदा प्रसन्नचित्त तथा आत्मज्ञानी होता है। वह अपने जीते-जी संसार में आदर प्राप्त करता रहता है तथा मृत्यु के बाद परलोक में भी सद्गति को प्राप्त करता है।

स्व. बक्शी हरिचन्द जी छिब्बर

(शमसाबाद वाले)

व

उनकी धर्मपत्नी

स्व. श्रीमती सुन्दरी देवी जी छिब्बर

की पुण्यस्मृति में

उनके विनीत सुपुत्र एवं पुत्रवधू

की ओर से

प्रयोजक :

बक्शी बी. एल. छिब्बर (पुत्र) आई. आर. एस., सेवानिवृत्त सदस्य (जज), आयकर अपीलीय अधिकरण; सम्प्रति एडवोकेट सुप्रीम कोर्ट

C/O CHHIBBER & CHHIBBER (REGD.)

ADVOCATES SOLICITORS & TAX CONSULTANTS

1014 (10th Floor) New Delhi House, 27 Barakhamba Road, Connaught Place, New Delhi-110 001.

Ph: 23766103, Cell : 98109-99521

E-MAIL : chhibbers@rediffmail.com. WEB : www.chhibberandchhibber.com.

thearyasamaj.org

गतिरेषा तु युक्तानां ये ज्ञानपरिनिष्ठिताः।
प्रवृत्तयश्च याः सर्वाः पश्यन्ति परिणामजाः।।

महा. आश्व. प. 51. 37

ज्ञानी जीवन्मुक्त व्यक्तियों की इसी लोक में परमगति निश्चित है, क्योंकि इस प्रकार के व्यक्ति अपने जीवन में ही संसार में रहते हुए ही सभी कर्मों को शुभ तथा अशुभ फल देने वाला समझते हुए अच्छे ही कर्म करते रहते हैं।

❋

अपने पूज्य दादा जी

स्व. पं. बाबूराम जी

(सेवानिवृत्त मुख्याध्यापक)

(जो दृढ़ आर्यसमाजी, परिश्रमी तथा काम करने में विश्वास रखने वाले थे)

तथा

अपने पूज्य पिता

स्व. श्री ज्ञानस्वरूप जी शर्मा

(जिनका निधन 14-9-1990 को हुआ)

की

पावनस्मृति

में

प्रयोजक :

श्री राजीव शर्मा

होशियारपुर।

thearyasamaj.org

तिष्ठेत् गृहे चैव मुनिर्नित्यं शुचिरलंकृतिः ।
यावज् जीवं दयावांश्च सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।

महा.वनप. 200.1.1

जो व्यक्ति घर में रहता हुआ भी अपने मन में सदा पवित्र भाव रखता है। मानवीय गुणों से सुशोभित रहता है तथा जीवनपर्यन्त कष्ट भोगने पर भी प्राणियों के ऊपर दयावान् रहता है। वह घर में रहता हुआ भी मुनि है तथा सभी प्रकार के पापों से रहित होता है।

अपनी पूज्या माता

स्व. श्रीमती नानकीदेवी जी आनन्द

[जिनका दुःखद निधन 24-10-93 को हुआ]

की

पुण्यस्मृति

में

उनके बन्धु-बान्धवों और विनीत बच्चों

की ओर से

प्रयोजक :

श्री सी. के. आनन्द (पुत्र)

मै. दीपा एक्स्पोर्टस, नई दिल्ली- 110 065

thearyasamaj.org

भक्ति-विशेषाङ्क, अप्रैल-मई तथा जून-जुलाई 2015

आदरणीय विद्वद्वर्य/ मान्या विदुषी !.......

आपको नववर्ष 2015 मंगलमय हो।

नव वर्ष की इस मंगलमयबेला में यह लिखते हुए प्रसन्नता हो रही है कि आपका यह संस्थान जहाँ एक शताब्दी से भी अधिक समय से अनेकों उपयोगी ग्रन्थों का प्रकाशन कर भारतीय संस्कृति तथा वैदिक साहित्य के संरक्षण का कार्य करता आ रहा है वहीं हिन्दी तथा संस्कृत- प्रेमियों की सद्भावना से पूर्णत: निष्ठावान् होते हुए हिन्दी और संस्कृत के प्रसार तथा प्रचार में भी अबाधगति से कार्य कर रहा है। इसी दिशा में कार्य करते हुए संस्थान जन-सामान्य की हिन्दी के प्रति रुचि बढ़ाने तथा हिन्दी-प्रेमियों की आनन्दाभिव्यक्ति के लिए हिन्दी के प्रति निष्ठावान् लेखक, कवि, नाटककार, कहानीकार एवं अन्य विद्वानों के द्वारा समय-समय पर भेजे गए लेखों को प्रकाशित करता आ रहा है। इसी निमित्त यह संस्थान गत 63 वर्षों से विश्वज्योति (हिन्दी मासिक पत्रिका) का प्रकाशन कर रहा है। जिसमें मान्य विद्वान्, लेखक तथा विदुषी लेखिका एवं शोध-छात्र-छात्रायें हिन्दी के प्रति अपनी अगाधनिष्ठा रखते हुए बिना किसी पारिश्रमिक के अपने लेख इत्यादि भेजकर हिन्दी के प्रसार एवं प्रचार में भरपूर सहयोग प्रदान करते हैं। इसके लिए संस्थान उनका आभारी है। विश्वज्योति यद्यपि मासिक पत्रिका है; तथापि विद्वानों के अनुभव को स्थायित्व प्रदान करने के लिए विश्वज्योति के वर्ष में दो (अप्रैल-मई एवं जून-जुलाई) विशेषाङ्क प्रकाशित किए जाते हैं। जिनमें विद्वान् लेखों द्वारा विशेषाङ्क के लिए निर्धारित विषय के माध्यम से अपने विचार प्रकट करते हैं, जो एक प्रकार से स्थायी साहित्य की अमूल्य निधि होते हैं। इसी परम्परा में वर्ष 2015 में **भक्ति** - विशेषाङ्क प्रकाशित किया जा रहा है। आपसे निवेदन है कि आप **भक्ति** से सम्बन्धित किसी विषय पर अपना लेख भेजकर हिन्दी के प्रचार तथा प्रचार में अपना अमूल्य योगदान देकर अनुगृहीत करेंगे।

विशेष- क्योंकि प्रकाशनीय नियमों के कारण पत्रिका में पृष्ठसंख्या निश्चित हुआ करती है और मान्य लेखकों तथा लेखिकाओं द्वारा भेजे गए लेखों की संख्या अधिक होती है। अत: सभी लेखों को पत्रिका में स्थान दिया जाय इस दृष्टि से लेखकों से प्रार्थना है कि आपका लेख अधिक से अधिक 5 पृष्ठ तक ही सीमित हो, साथ ही निवेदन है कि अपने लेख की मौलिकता स्वयं प्रमाणित भी कर के भेजें। लेख आक्षेपरहित हो तथा राजनीतिपरक न हों। लेख फरवरी 2015 के अन्तिम सप्ताह तक संचालक के कार्यालय में पहुचने से सुविधा रहेगी।

भवदीय विनीत

इन्द्रदत्त उनियाल
संचालक तथा सम्पादक

यदि कोई सी.डी भेजना चाहते है तो वह चाणक्य फांड में कम्पोज कर के भेज सकते हैं।।

thearyasamaj.org

भक्ति-विशेषाङ्क, अप्रैल-मई तथा जून-जुलाई 2015

विशेष – सुविधा के लिए विशेषांक से सम्बन्धित कुछ-एक शीर्षक प्रस्तुत हैं। किन्तु आप शीर्षक चुनने में स्वतन्त्र हैं।

1. भक्ति का स्वरूप
2. नवधा भक्ति
3. भक्ति की विधि
4. वेद में भक्ति
5. उपनिषद् वर्णित भक्ति
6. श्रीमद्भगवद्गीता तथा भक्ति योग
7. धर्मग्रन्थ तथा भक्ति
8. महाभारत तथा भक्ति
9. भक्ति के लाभ
10. भक्ति की महिमा
11. हिन्दी साहित्य में भक्ति
12. हिन्दी भक्ति काव्य
13. भक्ति-साहित्य
14. भक्ति और देवसान्निध्य
15. भक्ति और ब्रह्मप्राप्ति
16. भक्ति की परम्परा
17. भक्ति आन्दोलन
18. कबीर की भक्ति
19. तुलसीदास की भक्ति
20. गुरु नानक जी की रचनाओं में भक्ति
21. गुरु गोबिन्दसिंह जी की रचनाओं में भक्ति
22. गुरु रविदास जी की भक्तिभावना
23. वाल्मीकि रामायण में भक्तियोग
24. सूरदास की भक्ति
25. भक्ति-परम्परा में सन्त स्त्रियों का योगदान
26. वैष्णव भक्ति-परम्परा
27. सूफी कवियों की भक्ति
28. संस्कृत साहित्य में भक्ति

thearyasamaj.org

(संस्थान) सत्संग मन्दिर

वी. वी. आर. आई. सोसाईटी, होश्यारपुर (पंजाब) की ओर से प्रकाशक व मुद्रक
प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल द्वारा वी. वी. आर. इन्स्टीच्यूट प्रैस, पो. आ. साधु-आश्रम,
होश्यारपुर से छपवा कर, वी. वी. आर. इन्स्टीच्यूट, पो. आ. साधु-आश्रम,
होश्यारपुर-१४६ ०२१ (पंजाब) से २८-१२-२०१४ को प्रकाशित।